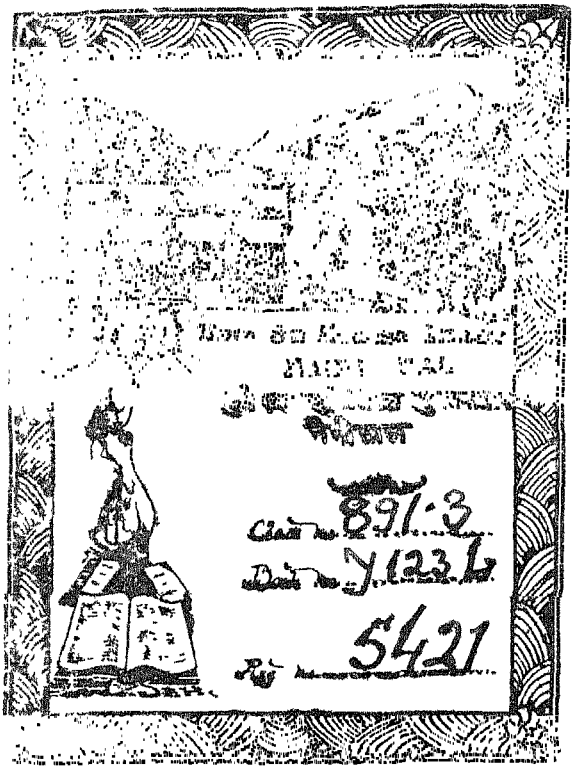

Class No. 891.3
Book No. Y.123.L
Acc. No. 5421

ललिताङ्गी

भारत के नैपोलियन दिग्विजयी सम्राट्-समुद्रगुप्त के पुत्र मागध सम्राट्-चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य एवं ध्रुव-स्वामिनी के ऐतिहासिक प्रेम से उत्पन्न तात्कालिक वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रतिक्रियाओं की व्युत्पत्ति के पश्चात युवराज कुमारगुप्त का एकांगी प्रणय-परिणय, कुन्तल राजकुमारी ललितांगी का प्रेमानुराग विरह वैदग्ध ; संगीत-विद्या विशारद मागध नागरिक कलाकार धनञ्जय के कमनीय स्नेहानुरागी के पश्चात् भयंकर राजद्रोही होते हुये वर्षों मागध से युद्ध करना ; एक योद्धा एवं राज-प्रतिनिधि के रूप में महाकवि कालिदास के विशद-दर्शन ; प्राचीन भारतीय कला संस्कृति, कृति-प्रकृति की झाँकी सहित प्रस्तुत उपन्यास मे जो जीवन-दर्शन प्रतिपादित है. वह अतीत का है और आप का भी ।

ललितांगी

[सांस्कृतिक ऐतिहासिक उपन्यास]

लेखक

यादवचन्द्र जैन एम. ए.

प्रकाशक

नारायण दत्त सहगल एण्ड सन्ज

दिल्ली

प्रकाशक :—
नारायण दत्त सहगल एण्ड सन्ज़,
दरीबा कलाँ, दिल्ली।

प्रथम संस्करण
सन् १९५७
मूल्य ३ रुपये ७५ नये पैसे

मुद्रक :—
नूतन प्रेस,
चाँदनी चौक, दिल्ली।

LALITANGI : YADAV CHANDRA JAIN M. A. 3.75

उपन्यास के सम्बन्ध में—

'ललितांगी'—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यास है। इसके अधिकांश पात्र एवं घटनायें ऐतिहासिक हैं। इसके साथ ही, स्वभावतः, कल्पना का भी विशेष प्रयोग मैंने किया है। इस विशेष का भी एक विशेष कारण है। वस्तुतः जिस प्रकार का भारतीय इतिहास हमें उपलब्ध है उसमें इतिवृत्तात्मकता एवं जीवनियों का सर्वथा अभाव है। शताब्दियों का इतिहास दस-दस, बीस-बीस पृष्ठों में पूर्ण हो गया है। हमारे इतिहासकार भी क्या करें? शिलालेखों एवं मानस्तम्भों से जो ज्ञातव्य है उसी को जोड़-मिलाकर 'भारतीय इतिहास' नामक एक वस्तु का नामकरण मात्र ही किया गया है।

'ललितांगी'—मेरी चौथी ऐतिहासिक कृति है। इसी प्रकार के एक अन्य ऐतिहासिक उपन्यास के विरचन-काल में अत्यधिक खोज करने पर भी आवश्यकतानुसार सामग्री मुझे प्राप्त न हो सकी। तदनन्तर मेरी उस आवश्यकता की पूर्ति ग्रीस के इतिहास से हुई। एक प्रसंग पर पाँचवीं शताब्दी के ग्रीस इतिहास में मुझे भारत का विस्तृत विवरण प्राप्त हो सका जबकि वह मुझे भारतीय इतिहास की पुस्तकों में नहीं मिला। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे अतीत के निर्माताओं में उस प्रकार की रुचि का सर्वथा अभाव था। सिकन्दर ने जब दिग्विजय प्रारम्भ की थी तो साहित्यकारों के साथ-साथ उसके दल में इतिहासकार भी थे जो प्रति-

दिन का विवरण लिखते थे। सिकन्दर के कोर्ट में एक गजट निकलता था जो घटनाओं का दैनिक विवरण देता था।

मुगल काल के पहले के भारतीय राजाओं के ही नहीं, सम्राटों तक के सम्बन्ध में मैं यह कहने को विवश हूँ कि यदि उनका नाम ज्ञात है तो उनके पिता अज्ञात हैं। उनकी महाराज्ञी का नाम कहीं मिलता हैं तो कहीं नहीं। राज्यों की राजधानियों तक के नाम ज्ञातव्य नहीं है। तब एक उपन्यासकार को किसी पात्र की रुचियाँ, स्वभाव, वेश-विन्यास, वातावरण कहाँ से प्राप्त हो सकेगा ? तभी, जिस प्रकार शिलालेखों पर हमारा इतिहास आधारित है जिसका एक पत्थर टूटने पर दूसरी टाँग कहीं जुड़ती है, उसी प्रकार उस पृष्ठभूमि पर अवलम्बित उपन्यास में ऐतिहासिक तत्वों के टुकड़े ही अधिक मिलेंगे। वास्तविक आधार तो कल्पना का ही रहेगा।

इस उपन्यास के सम्बन्ध में ही इतिहास का वैसा उदाहरण मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ :

. . . . . It (Gupta Kingdom) penerated further downwards when the Kadamba's succeeded in marrying a princess of their's to a prince in the Gupta family, as stated in a record of king Kakusthavarman of that Dynasty. Which Kadamb princess was married to which Gupta prince is, howewer, not known.

Introduction-History of Gupta Dynasty.
(*The Gupta Gold coins in the Bayana Hoard—A. S. Altaker Page XXVII—Item 56*)

किन्तु कहीं हमारे भारतीय इतिहासकारों ने लिखा है कि कदम्ब वंश के राजा काकुस्थवर्मन की राजकुमारी का विवाह चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के पुत्र कुमारगुप्त के साथ सम्पन्न हुआ था। काकुस्थवर्मन आधुनिक बम्बई के निकटवर्ती प्रदेश कुंतल का शासक था। अब

इतने पर कुंतलेश काकुस्थवर्मन के कदंब वंश का वह विवरण नहीं प्राप्त है जैसा गुप्त-वंश का।

महाकवि कालिदास एक अमर काव्यकार होने के साथ ही एक योद्धा का स्वरूप भी धारण करते थे तथा उनको मगध की ओर से कुंतल का राज-प्रतिनिधि बना कर भेजा गया था यह भी विदित होता है।

कुंतल राजकुमारी के मागध-राजकुमार से परिणय के सम्बन्ध में:—

गुप्तादि पार्थिव कुलाम्बुरुहस्थलानि स्नेहादर प्रणय संभ्रम केरुणाणि।
श्रीमन्तनेक नृपषट्पदसेवतानि योऽबोधयद्हितुदीधितिमिर्न पार्कः।
E.I. VIII P. 3.

सम्राट् कुमारगुप्त का पुत्र स्कन्दगुप्त युवराज था तथा पुरुगुप्त एक अवैध सन्तान थी ऐसा भिटारी-स्तम्भ से ज्ञात होता है। यह स्कन्दगुप्त कुंतल-राजकुमारी का पुत्र ही सम्भावित है।

सम्राट् रामगुप्त-ध्रुवस्वामिनी-चन्द्रगुप्त प्रसंग भी इतिहास की एक प्रसिद्ध घटना है।

इस प्रकार उस अवलम्ब पर ही मैंने इस उपन्यास की सृष्टि की है। मेरे अन्य सांस्कृतिक—ऐतिहासिक उपन्यासों की भाँति ही मेरा यह उपन्यास भी विज्ञ पाठकों से आदर प्राप्त करेगा—ऐसी मैं आशा करता हूँ।

दिल्ली, प्रवास
जून–जुलाई, ५७

—यादवचन्द्र जैन

१

ओ३म् नमः शिवाय्
ओ३म् नमः शिवाय्
ओ३म् नमः शिवाय्

के स्वरों के साथ ही देव-मन्दिर में, अनेक ओर से, घंटों की तीव्र ध्वनियाँ वायु को विकम्पित करने लगीं। कुन्तल-राजधानी का विशाल शिवालय जनरव से परिपूर्ण था। शिवालय के उत्तर, पश्चिम, दक्षिण, पूर्व के प्रवेश द्वारों से नर-नारी आ-आकर शिव-शक्ति के सम्मुख नत-मस्तक हो रहे थे; अपनी अर्चना के पुष्प आराध्य पर अर्पित कर रहे थे और लौट रहे थे। मंदिर के भव्य प्रांगण के ऊपर तनी चंदोवे-सी छत के नीचे के दर्शनीय प्रस्तर-स्तम्भों में अनेक जन एकान्त-भावना सहित अपने पलक मूँदे भगवान् शिव का मनन कर रहे थे। इन्हीं में कुछेक श्वेत-शृंग-प्रस्तर के ललित बिछावन पर पल्थी मारे बैठे थे और एकाग्रता में लीन थे। यों सभी एक बार शिव-मूर्ति के दर्शन कर लेते थे, तदनन्तर कुछ लौट जाते थे और कुछ ध्यानस्थ होकर शिवोपासना के विशद् स्वरूप में उस महा विशाल प्रांगण में इधर-उधर घूमते फिरते थे। शिव-प्रतिमा मन्दिर के पश्चिमी कोण पर थी जिसकी वेदी का मुख पूर्व दिशा की ओर था। इस वेदिका को एक कोष्ठक ने घेर रखा था जिसके अष्टकोणों

पर चाँदी के कपाट हर समय खुले रहते थे। यह कोष्ठक शिव-शक्ति के भक्तों द्वारा नाना प्रकार के पुष्पों से परिपूर्ण रहता था जिसके कारण उस सीमित कोष्ठक में अन्दर जाकर दर्शन करना सुगम न था। अतः दर्शनार्थी एवं पुजारी चाँदी के कपाटों के निकट से ही माथा टेक लेते थे। यहीं से उभरी पुष्प एवं धूम्र की पावन गन्ध समस्त प्रांगण में पुलक संचार कर भक्ति का स्रोत उमगाती थी।

संध्या होने को थी। वस्तुतः संध्या होने में अभी कुछ विलम्ब था। अनायास ही अनिंद्य रूपसियों का एक समूह मन्थर-गति से वेदिका कोष्ठक के निकट जा पहुँचा। इसका नेतृत्व परम रूपवती राजकुमारी ललितांगी कर रही थी। समूह में सब मिलकर सात नवयौवना अमित सौंदर्य झलकाते तथा मंदिर के प्रांगण को अपनी चंचल दृष्टियों से निहारते हुए शान्त तथा दत्तचित्त भक्तों की विरागस्थिति में भी अनुराग उभार रही थीं। केवलमात्र राजकुमारी ललितांगी अपने स्थिर नेत्रों एवं सुविशाल मस्तक को शिव-शक्ति के सम्मुख टेके हुये थी। शेष सभी कोमलांगिनें अपने वज्र सम कठोर भ्रूभृगों को चढ़ा-उतार रही थीं एवं अस्थिर कटाक्षों से शिवालय में अवस्थित दर्शनार्थियों को जुगुप्सा में देखती जाती थीं। इतने पर भी उनकी यह सब प्रक्रिया इतनी सलज्ज व शान्त थी कि देखकर यह ध्यान कर लेना सरल न था कि उनकी मदिर रूपाकृतियों में कहीं उद्दण्डता भी झांक रही है।

उस पल राजकुमारी ललितांगी का मस्तक भूमि-स्पर्श कर रहा था।

निमिषमात्र में सम्पूर्ण वातावरण में एक कौतूहल व्याप्त हो गया और सभी के मुंह से मन्द स्वरों में प्रकट हुआ—"महाराज !"

"महाराज ! इस प्रकार साधारण वेश में ?"

"महाराज ! शिव-मंदिर में ?"

"राजकुमारी तथा महाराज एक साथ शिव-मंदिर में·····? कैसा आश्चर्य ?"

"किन्तु कारण····· ?"

जो भूमि पर बैठे थे वे श्रृद्धावश उठ खड़े हुये। जो दर्शन करने के अनन्तर अस्त-व्यस्तता में इधर-उधर फिर रहे थे वे एक प्रकार से व्यवस्था में पंक्ति बांधकर एक ओर खड़े हो गये। दूर-दूर शिवालय के कर्मचारी सशंक भाव से लपके किन्तु ठिठके-से देखते रहे। शिवालय के इतिहास का वह प्रथम दिवस था अथवा कुंतल के अधिपति महाराज काकुस्थ वर्मन के जीवन का वह प्रथम प्रहर था जब अपनी आस्था के विपरीत, एक विप्लवकारी मान्यता के प्रकट वातावरण के प्रभाव सहित वे शिव-मंदिर पधारे थे।

निश्चय ही शिवालय के भट्टारक सोच रहे थे—अन्य भक्तों की भांति महाराज काकुस्थ वर्मन आये नहीं हैं अपितु पधारे हैं।

इसका भी एक कारण था। यह सर्वविदित था कि कुंतल के शक्तिशाली शासक महाराज काकुस्थ वर्मन परम बौद्ध हैं। यही नहीं, उनमें अन्य धर्मों के प्रति तीव्र अनादर की भावना भी सर्व प्रकट थी। यह भी, स्पष्टतः, जन-जन में व्याप्त था कि कुंतल की राजकुमारी ललितांगी एवं महाराज काकुस्थ वर्मन में धार्मिक मान्यता के आधार पर एक तीव्र मतभेद चलता है।

तभी उस क्षण राजकुमारी व महाराज को एक ही समय उस स्थान पर देखकर सभी स्तम्भित से थे। विशेषतः अंगरक्षकों के अभाव में महाराज जब वेदिका कोष्ठक के निकट बढ़ गये तो उपस्थित-जनों की जुगुप्सा भी बढ़ती गई।

शिव-शक्ति के सम्मुख पहुँच कर महाराज काकुस्थ वर्मन ने एक ओर हाथ जोड़े और दूसरी ओर शिवालय के अनगिन घंटे बज उठे। बाहर श्रृङ्गनाद ने आकाश वेध दिया और मन्दिर के मुख्य-भट्टारक मौन मुस्कान सहित महाराज काकुस्थ वर्मन की ओर बढ़ गये।

महाराज की दृष्टि घूम कर जो केन्द्रित हुई तो पुत्री ललितांगी मुखर-मुस्कान से ओत-प्रोत हो उठी। उसने पुनर्वार अपने नेत्र घुमाये। पुनर्वार अपने मस्तक को भूमि पर टिका दिया। पुनर्वार एक दृष्टि में उस विशाल प्रांगण में एकत्र छितरे हुए खड़े शिव के उपासकों को देखा। सभी की आकृतियों में मुस्कान का अलस नर्तन उभर रहा था।

× × ×

"बन्द करो इतना चीत्कार·····यह शृंग-नाद कौन कर रहा है··· भट्टारक ! यह किसकी आज्ञा से इतने घंटे एक साथ बज रहे हैं····· इन्हें कौन बजा रहा है·····क्या शिव-मंदिर में सदैव ऐसा ही कोलाहल मचा रहता है·····देवालय में इतनी अशान्ति ?"

महाराज काकुस्थ वर्मन की वाणी सुन कर आगे बढ़ा हुआ भट्टारक सहम कर स्थिर हो गया। एक विकलता उपस्थित जनों में भी व्याप्त हो गई। महाराज का उग्र रूप देखकर राजकुमारी के साथ की षोडसी बालाएँ हतप्रभ व अशान्त हो उठीं।

तभी राजकुमारी ललितांगी मन्द पग टेकती आगे बढ़ आई।

"चलिये पिता जी !"

२

कुंतलाधिपति काकुस्थ वर्मन ने अपनी परम प्रिय पुत्री राजकुमारी ललितांगी के प्रवास के लिए जो प्रासाद दिया था वह विशेष आकर्षक, कलात्मक तथा विचित्र था। सम्पूर्ण प्रासाद श्वेत प्रस्तर का बना हुआ था, किन्तु स्थल-स्थल पर काले पत्थर को मिला कर भवन का जो निर्माण हुआ था उससे उस शुभ्रता में कालिमा मिलाकर न जाने कैसा सा आकर्षण उत्पन्न हो गया था। भवन-निर्माण-कला की भव्यता में सम्पूर्ण प्रासाद श्वेत होते हुए भी भवन-निर्माण विशेषज्ञ ने कहीं कोई सीढ़ी काले पत्थर की निर्माण कराई थी तो कहीं वाह्य अथवा अन्तर अलिन्द को जोड़ने वाली एक या दो सीढ़ियाँ काली लगा दी थीं जो शुभ्र आकृति में कज्जल सी सुहानी प्रतीत होती थीं। लगता था प्रकोष्ठों में जहाँ सम्पूर्ण पंक्ति श्वेत प्रस्तर की झलक रही है वहीं कहीं भाल के तिलक की भांति बीच-बीच में काले पत्थर के टुकड़े लगा दिये गये हैं जो वास्तु-कला की पूर्णता व विशेषता के परिचायक थे।

सम्पूर्ण राजप्रासाद कृष्ण प्रस्तर के परिकोटरे से घिरा हुआ था जिसमें अनेक स्थानों पर श्वेत-प्रस्तर के भव्य सिंहद्वार बने हुए थे जिनमें प्रहरी सतर्क भाव से राजमहालय की रक्षा करते थे। वाह्य परिकोटरे के पश्चात् अन्तर्भाग में जितने भी रक्षास्थल थे उनमें स्त्रियों की

प्रहरी-पंक्तियाँ लगी हुई थीं जो राजकुमारी के प्रासाद की रक्षा करती थीं। ये स्त्रियाँ कंधों पर नग्न खड्ग लिये रहती थीं तथा इनके चलने में जो ऐंठन दीख पड़ती थी उससे लगता था इन्होंने अच्छी सैनिक शिक्षा प्राप्त की है।

इसी राजमहालय के एकान्त कक्ष में राजकुमारी ललितांगी वीणा के स्वर अलाप रही थी। प्रातः समीर मन्द झकोरे लेकर वीणा की झंकार को दूर-दूर तक प्रसारित कर रहा था। ललितांगी अलस रूप तथा अल्हड़ यौवन की कुमारिल मादकता में अपनी उँगलियों को वीणा के तारों पर निष्प्रयोजन थिरका रही थी जिससे अनियन्त्रित से स्वर प्रकट हो रहे थे किन्तु उनमें भी एक मोहन था, एक कौतुक। राजकुमारी के संगीत-शिक्षक स्वर्णपीठिका पर बैठे थे और अपने पलकों को मूंद कर ललितांगी के अंग-सौष्ठव को मस्तिष्क में उतार रहे थे। उन्हें चिंता न शिक्षा की थी न स्वरों की अप्रासंगिकता की। एकमात्र आकर्षण था कुंतल राजकुमारी के सामीप्य-सुख की प्रभावना में अपने भाग्य को सराहने का।

ललितांगी भी इससे भली प्रकार परिचित होती जाती थी कि उसके संगीताचार्य अपनी युवक प्रवृत्ति के आधार पर इधर तीन-चार मास से उसके समीप आकर केवल शांत व सुस्थिर हो कर बैठ जाते थे। उसे न कुछ आदेश करते थे न ही अपने आचार्यत्व को ही प्रकट करते थे। प्रारम्भ में जो एक-दो स्वर उन्होंने ललितांगी को बताये थे, ललितांगी के यदा-कदा प्रश्नों पर यही कह देते थे—"राज्य श्री ! उन स्वरों को ही दोहराओ।"

विवश ललितांगी शिक्षक के आदेश-पालन की आस्था में उपेक्षा सहित वे ही स्वर दोहराती चली जाती थी।

इस समय आचार्य पदवी प्राप्त युवक संगीताचार्य धनञ्जय को आये विलम्ब हो गया था। धनञ्जय ललितांगी को प्रारम्भिक आदेश देकर

स्वर्ण-पीठिका पर यों उढ़क गये थे जैसे ललितांगी को प्रतीत हुआ आचार्य निद्रा-निमग्न हो गये हैं और तभी वह कुछ समय तक तो निर्देशानुसार स्वर-वादन करती रही तदनन्तर ऊब कर अनर्गल स्वरों को थिरकाती रही। इधर ललितांगी एकांत में अनेक बार ध्यान कर लेती थी--आचार्य को हुआ क्या है ? आचार्य आते हैं। उनमें यौवन दमकता है। उनमें संगीत की विशेषतायें सर्वमान्य तथा सर्वविदित हैं किन्तु न जाने क्या है अपनी निश्चेष्टा में वे आते-आते जैसे सो जाते हैं। पलक मूंद लेते हैं। उनकी आकृति के गौर वर्ण में एक थकन, एक उदासी सी परिलक्षित होती है। श्रद्धावश ललितांगी कोई प्रश्न करने का साहस नहीं कर पाती थी।

आज भी आचार्य धनञ्जय स्वर्ण-पीठिका पर यों निद्रा-निमग्न हो गये थे जैसे मदिरा के जटिल प्रभाव में हों। तभी ललितांगी की वैयक्तिक अंग-रक्षिका सुमाली ने सूचना दी —"महाराज पधार रहे हैं।"

सुमाली का अन्तिम शब्द समाप्त ही हुआ था कि महाराज काकुस्थ वर्मन का स्वर प्रकट हुआ—"ललिते ! ललिते !"

"पिता जी ! आइये पिता जी !"

"वाह ! तुम्हारी वीणा और तुम्हारे आचार्य दोनों तो सो रहे है," महाराज काकुस्थ वर्मन ने किंचित् परिहास सहित प्रकट किया।

ज्यों हड़बड़ा कर आचार्य धनञ्जय उठ बैठे और महाराज के समक्ष विनम्र अभिवादन सहित खड़े होने का उपक्रम करने लगे।

खड़े होते-होते न जाने कैसे धनञ्जय के पैर लड़खड़ाये और वे स्वर्ण-पीठिका पर गिर पड़े।

"क्या है आचार्य ? आप स्वस्थ तो हैं ?" तीव्र स्वर में महाराज ने प्रश्न किया।

"पूर्णतः स्वस्थ हूँ राजन् !"

"तब कर्त्तव्य की कैसी अवहेलना प्रकट हो रही है, आचार्य !" कुंतलाधिपति ने किंचित गम्भीर होकर कह डाला ।

आचार्य धनञ्जय लज्जा सहित मौन हो रहे और ललितांगी भी ज्यों अपराध की निरर्थक स्वीकारिता में भूमि पर दृष्टि गड़ाये हुए खड़ी की खड़ी रह गई।

कुंतलाधिपति एक पल को विचार-मग्न हो गये । निकटवर्ती अंग-रक्षक अनायास ही न जाने कैसा विचित्र सा प्रसंग सोच गये और तभी वाणी प्रकट हुई—"तब आचार्य ! मुझे ललिते से आवश्यक वार्ता करनी है । आप कल यहाँ आने के पूर्व मुझसे मिलें ।"

महाराज काकुस्थ वर्मन का निर्देश पाकर आचार्य धनञ्जय एक अपराधी की सी मौन स्थिति में कक्ष से बाहर चले गये ।

× × × ×

"किन्तु पिता जी ! वह पतिता ध्रुवस्वामिनी का ही तो पुत्र है ।"

"ललिते ! निरर्थक आवेश में आदर की मर्यादा तोड़ने की धृष्टता मत करो । तुम्हें ध्यान होना चाहिए कि तुम अपने पिता से वार्तालाप कर रही हो । तुमसे यह किसने कहा कि वह राजकुमार ध्रुवस्वामिनी का पुत्र है ?"

सहम कर ललितांगी मौन हो रही ।

"बोलो उत्तर दो । और फिर यदि कुमार ध्रुवस्वामिनी का पुत्र भी हो तो इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं ।"

मुझे तो है—ज्यों ललितांगी मन ही मन ध्यान कर गयी किन्तु इस पर भी मौन बनी रही ।

"तब तुम्हारा क्या उत्तर है ललिते ?" महाराज काकुस्थ वर्मन निरन्तर प्रश्न करते रहे ।

निर्वाक् ललितांगी निरन्तर आचार्य धनञ्जय की उस स्थिति में ही

उलझी रही जिसमें वे स्वर्ण-पीठिका पर गिर पड़े थे। वह उसका कारण जानने को अधीर हो उठी थी। किन्तु पिता के आदेशात्मक स्वर उसके कर्ण-रन्ध्रों को झझकोर रहे थे—"तब तुम्हारा क्या उत्तर है ललिते ?"

अन्ततः ललितांगी का स्वर प्रकट हुआ—"सामाजिक मान व गौरव के प्रश्न को आप अधिक जान सकते हैं·····।"

"तब मैं दूत को पाटलिपुत्र भेज रहा हूँ·····।"

कुंतलाधिपति काकुस्थ वर्मन अपनी पुत्री ललितांगी को अव्यवस्थित छोड़ कर लौट गये।

३

"सुमाली ! आज आचार्य नहीं आये ? उन्हें आने में कभी इतना विलम्ब तो नहीं होता था। देख···तो आचार्य क्यों नहीं आये····· ?" प्रासाद के पार्श्व में स्थित कानन की हरित दूर्वा पर मन्द पग टेकते, बेला की अलसाई कलियों के गुच्छों पर कभी उँगलियाँ फेरते, कभी नासिका से उनका रस पीते हुए सौंदर्य कुमारी ललितांगी ने किंचित् आवेश राहित कहा। विगत दिवस हुई घटना के आधार पर उसे निरन्तर दो चिन्तायें अधीर बनाये हुए थीं। दो प्रसंग उसके मन-मानस को आन्दोलित किये हुए थे। दो प्रश्न उसके सरल-सहज स्मित-हास को विषाद में परिवर्तित करना चाहते थे।

आचार्य को अपने समक्ष उपस्थित होने का जो आदेश स्वयं कुंतलाधिपति ने दिया था उससे वह किंचित् व्यग्र हो गई थी। व्यग्रता का कारण जानने में वह स्वयं असमर्थ थी किन्तु न जाने किस कारण अनेक बार, स्वतः उसके हृदय में आचार्य के प्रति एक करुणा जागृत होती और विलीन हो जाती थी। वह इधर एक मास से आचार्य धनञ्जय की शिष्या के रूप में संगीत-शिक्षा ग्रहण कर रही थी। उसके अनिंद्य रूप की कुमारिल-आभा की जो प्रदीप्ति इधर-उधर व्याप्त थी, उससे अनेक मन उलझने की अशान्त व निष्फल चेष्टायें करते रहते थे।

ललितांगी के अंग-सौष्ठव को निहार कर कोई भी युवक-हृदय सरसता को आह्वान करने के लिए विचलित हो उठता था। अनेक अवसरों पर अपनी राजकुमारी के सौंदर्य के दर्शनार्थ ही कुंतल राजधानी के नागरिकों की अपार भीड अनेक स्थलों पर, अनेक बार एकत्र हो जाती थी। राजकुमारी अपने समय की सर्वमान्य सुन्दरी थी। उसके नेत्रों की मादकता अद्वितीय थी। उसकी नासिका की बनत को देखकर राजमहालय के कानन के शुक भी अपने में लजा जाते थे। उस की स्वर्णिम आभा में यौवन का हास प्रतिपल खिलखिलाता रहता था।

इसी रसवन्ती चेतना में आचार्य धनञ्जय भी डूब गये थे। कुंतलाधिपति का आदेश पाकर और राजकुमारी ललितांगी के प्रवास-प्रासाद में प्रवेश पाकर जो राजकन्या के कुमारिल रूप को आचार्य ने निकट से देखा तो प्रथम साक्षात्कार में ही सुध-बुध खो बैठे। आचार्य धनञ्जय भी अभी चिर कुमार थे और उनकी भी प्रकृति मे जो स्निग्ध-सौंदर्य प्रस्फुटित होता था वह अनेक कामनीय कामिनियो को हठात् चचल बना देता था। संगीताचार्य के रूप में उनकी ख्याति सर्वत्र व्याप्त थी। अपनी अल्पावस्था में ही जो कीर्ति आचार्य धनञ्जय ने अर्जित की थी, उसी आधार पर नीति के विपरीत भी एक युवक सगीतज्ञ को एक कौमार्या का शिक्षक होने का भार परम यशस्वी शासक काकुस्थ वर्मन ने दिया था।

इतना सब होते हुए भी अपनी सरल अबोधता मे ललितांगी सर्वथा अनभिज्ञ थी। राग की अवचेतनाओं में अज्ञात थी। आकर्षण की जुगुप्सा से दूर थी।

अस्तु, अनेक मास व्यतीत हो जाने के अनन्तर भी आज प्रथम दिवस था, जब आचार्य के प्रति अनायास वह इतना अधीर हो गई थी। आचार्य सर्वदा उदास बने रहते हैं—ललितांगी यह जानती थी। उनके संगीत-शिक्षण की गतिविधि भी उसे कुछ विचित्र-सी ही प्रतीत होती थी। उनमें कभी कोई चेतना, कोई जागरूकता, कोई निर्देशता—उसने कभी

देखी ही नहीं। यों, वे जैसे सदा सुन्न बने रहते हैं। न जाने क्यों, ललितांगी के समक्ष बैठकर एक-दो स्फुट वार्ता करके—वे गुम-सुम हो जाते हैं और पलक मूँद कर पीठिका पर विराजे रहते हैं। ललितांगी का जब जी चाहता तब स्वर-राग अलाप लेती और जब जी चाहता तो स्वयं शान्त हो जाती। स्वरों की शान्ति पर भी आचार्य नहीं हिलते-डुलते। तब यदि ललितांगी उन्हें कभी पुकारती तो वे चैतन्य होकर एक दृष्टि ललितांगी पर आश्रित करते—वैसी दृष्टि जिसमें प्रश्नोत्तर, अपनत्व-दूरत्व, शालीनता-उद्दण्डता—सब-कुछ एक साथ होता था।

अस्तु, आज आचार्य के न आने पर ललितांगी अपनी अधीरता में एक कक्ष से दूसरे कक्ष, एक प्रांगण से दूसरे प्रांगण, एक अलिंद से दूसरे अलिंद, प्रासाद से पार्श्व कानन, कानन से प्रासाद, प्रासाद से दक्षिण कानन, दक्षिण कानन से पूर्व स्थित कानन के मध्य के विशाल सरोवर तक घूम रही थी। उसके इस गमन-प्रत्यागमन में सेविकाओं का एक छोटा समूह साथ चल रहा था। इनमें एक-दो सेविकायें अधिक मुँह लगी भी थीं। सर्वाधिक निकटतम सुमाली तो सखि-स्थिति में हो गई थी और ललितांगी के अनुरोध पर आचार्य का पता लगाने जा चुकी थी। शेष सेविकायें राजकुमारी की तत्कालीन अवस्था को देखकर किंचित् विस्मित थीं। वे ध्यान कर रही थीं—राजकुमारी इतनी उद्विग्न तो कभी नहीं दिखीं। तभी एक सेविका ने मनभावनेपन से कहा—"कुछ खो गया क्या ?"

राजकुमारी ललितांगी शब्द सुनते ही आवेश में भर गई। रोष में उसने मुख्य सेविका को पुकारा—"माध्वी ! इस इरा को तत्काल मेरे समक्ष से पृथक् करो·····हट जा मेरे सामने से।"

आदेश पर सेविका समूह में एक कम्पन व्याप्त हो गया। इरा सहम गई।

"जा हट यहाँ से !" माध्वी ने तीव्र स्वर में कह डाला।

स्वभाव की तीव्रता तो विख्यात थी, किन्तु ललितांगी की इतनी तीक्ष्णता—इतनी विषमता कभी किसी ने नहीं देखी।

इरा दासी समूह से चली गई।

× × ×

"क्यों ?....." सुमाली को देखते ही ललितांगी ने प्रश्न किया।

"आचार्य का कुछ भी पता नहीं चला।"

"तेने कहाँ-कहाँ देखा ?"

"महाराज ने इसी समय आचार्य को मिलन-कक्ष में बुलाया था किन्तु दौवारिक लौट आया।"

"तब ?"

"मैंने एक प्रहरी को आश्रम में भी भेजा।"

" ....."

"आचार्य वहाँ भी नहीं हैं।"

"....."

"किस सोच में पड़ गयीं राजकुमारी ? कुछ समय अनन्तर आचार्य शिवालय आवेंगे। निश्चित समय पर वे वहाँ तो जावेंगे ही। उनके वहाँ बिना गये वन्दना-गीत कौन गायेगा ?....." सुमाली कहती गई।

जैसे ललितांगी के नेत्रों में ज्योति चमक गई। इस समय तक ललितांगी के निकट से सेविका-समूह जा चुका था। राजकुमारी एकान्त-स्थिति में, कानन के मध्य, एक श्वेत-प्रस्तर-पीठिका पर विचारमग्न बैठी थी। कुछ दूर; दो अंग-रक्षिकाकायें सतर्क भाव से हरित दूर्वा पर टहल रही थीं।

"तो आचार्य पिता जी के आदेश पर उनके निकट नहीं गये ?"

"न....." सुमाली कह गई।

"अच्छा हुआ।"

"अन्यथा....."

"यदि पिता जी आचार्य की विशृङ्खलता पर किंचित् भी टीका-टिप्पणी करते तो मुझे उनसे लड़ना पड़ता।"

"किन्तु इधर आचार्य कुछ अर्ध-विक्षिप्त-से दीखते हैं। महाराज यदि उन्हें कुछ ताड़ना देते तो क्या हानि होती ? व्यवहार का औचित्य तो निभाना ही चाहिये।"

"क्या आचार्य कोई व्यवहार भूल गये है ?"

"महाराज के समक्ष ही स्वर्ण-पीठिका पर उठते-उठते गिर पड़ना और वह भी स्वस्थ स्थिति में, अक्षम्य अपराध है," सुमाली कहती गई।

ललितांगी ने सुमाली के इस कथन का कोई उत्तर नहीं दिया और निरन्तर विचार करती रही—'ठीक तो है। सुमाली अनुचित क्या कह रही है ? सचमुच, इधर आचार्य को न जाने क्या हो गया है ?····· और आचार्य की मूर्ति ललितांगी के नेत्रों में अनायास नर्तन करने लगी। शुभ्र वेश, रक्त वर्ण रेशमी कौशेय-धारी गौरांग आचार्य का स्वस्थ व्यक्तित्व स्वर्ण-पीठिका पर विराजमान प्रतीत होने लगा। ····· ललितांगी निरन्तर उद्विग्न होती गई। तब, उसे क्या हुआ है ? आचार्य का इतना ध्यान आने का प्रयोजन ?'

"छोड़ो भी यह प्रसंग। आचार्य जावेंगे कहाँ ? ·····हाँ, राज-कुमारी यह तो बताओ, कल महाराज किस विशेष मन्तव्य से इधर पधारे थे ? क्या वही परिणय-चर्चा ?"

"और वह भी उसी भ्रष्टा-पुत्र के साथ।"

"यह तुम्हारा अन्याय है ललिते ! उसे तुम भ्रष्टा-पुत्र क्यों कहती हो ?"

"और क्या कहूँ, दिव्यात्मा, सर्वजित, सर्वप्रिय·····," ललितांगी ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए व्यक्त किया।

क्लेश की वैसी निःश्वास सुमाली को अब तक की अनुभूतियों में नवीन प्रतीत हो रही थी। उसने कभी भी, किसी को, विशेषतः राज-

कुमारी को व्यथा की आवृति में देखा ही न था। परम लावण्यमयी सुमाली के जीवन ने भी कभी विषाद जाना ही न था। षोडसी सुमाली भी सदा-सर्वदा आनन्दमय वातावरण में बढ़ी-पली थी। कुंतल राजकुमारी ललितांगी की सेविका नहीं सखि होने के कारण वह सदैव ही हर्षोन्मत्त रहा करती थी। उसने राजकुमारी को भी आज तक, प्रतिपल प्रफुल्लित ही पाया था। आज, वह प्रथम क्षण था जब वेदना की निःश्वास का गहन अनुभव, राजकुमारी को नहीं—सुमाली को भी हुआ था। प्रथम बार सुमाली को प्रतीत हुआ—ललितांगी के हृदय में आचार्य के अभाव का इतना प्रभाव ? ·····इसके अतिरिक्त और क्या कारण हो सकता है ? ·····प्रसंग,कुमार के साथ परिणय का भी चल रहा है किन्तु उसके हेतु तो ललितांगी कटिबद्ध है। उसने अपने स्वभावानुसार महाराज से स्पष्टतः कह दिया है किन्तु महाराज न जाने क्यों इस परिणय के लिये स्थिर हैं। वे तर्क की शक्ति के आधार पर ललितांगी की सहमति प्राप्त करना चाहते हैं। इतने सब पर भी ऐसी क्या बात है जो ललितांगी इतना व्यग्र हो उठी है। इन्हीं विचारों सहित सुमाली ने पुनः प्रारम्भ किया—"क्या कुमार की अकुलीनता पर कुछ प्रकाश डालोगी, ललिते !"

"इस समय नहीं। इस समय मेरा मन अत्यधिक खिन्न है सखि !"

"कुन्तल राजकुमारी और खिन्नता ! यह जीवन के कौन से क्षण हैं ? यह जीवन-क्रम में कौनसा व्याघात है ? यह कैसा परिवर्तन ललिते !"

"परिवर्तन कैसा सुमाली ? कोई भी सदा आनन्दिल ही नहीं बना रह सकता," उस क्षण ललितांगी के स्वरूप पर विषाद रेखा भी भली लग रही थी।

"जो भी हो। कुंतल राजकुमारी को मैंने कभी भी विषादमय नहीं देखा। परिणय-प्रसंग पर, माना कि प्रत्येक कुमारी को अनायास, एक

विछोह की-सी अनुभूति होने लगती है, किन्तु वह जीवन की एक महान् प्रसन्नता भी तो है·····," सुमाली ने ललितांगी के हृद्गत भावों को खोजने की चेष्टा की।

"कोई और बात करो सुमाली। ·····हाँ, मैं तुम्हें बताना भूल ही गई। इरा अत्यधिक उद्दण्ड होती जा रही है·····।"

"क्या हुआ?"

"मैंने अभी-अभी उसे सेवा-कार्य से मुक्त कर दिया है," ललितांगी ने तत्परतापूर्वक कह डाला।

सुमाली चौंकी। एक पल को नीरवता छा गई। तभी सुमाली कह गई—"छोटी राजकुमारी तो इरा को चाहती ही थीं। वह उनके पास चली जावेगी।"

"जाने दो।"

"यह राजकुमारी का अपमान होगा।"

"विग्रह मत उत्पन्न करो सुमाली!"

"मैं नहीं, विग्रह इरा ही प्रकट करेगी।"

"शिवालय में आचार्य के आने में कितना विलम्ब होगा सुमाली!" कहते हुए ललितांगी ने सुमाली की बात को वहीं समाप्त कर नया प्रसंग प्रारम्भ कर दिया।

सुमाली को भी लगा—राजकुमारी आचार्य के लिये कितनी व्यग्र हैं और वह बोली—"अभी विलम्ब है, सखि!"

४

कुंतल राजधानी के संघाराम में भिक्षुओं की भीड़ थी। विगत मास ही लगभग एक सहस्र भिक्षुओं का एक दल देशाटन करके लौटा था जिसने अनेक सभायें आयोजित कराई थीं। प्रवचन के हेतु आचार्य भिक्षु उपगुप्त एवं अन्यान्य प्रसिद्ध भिक्षुओं ने नागरिकों की महती सभाओं में भाषण कर अपनी यात्राओं के विवरण सुनाये थे तथा तथागत भगवान् बुद्ध के अमृतमय सिद्धान्तों का प्रचार किया था। कुंतल राज्य में अधिकांश जनता बौद्ध थी। अनेक शिवालय तथा कृष्ण-मन्दिर होते हुए एवं शैवों तथा वैष्णवों की बहुलता के मध्य भी बौद्धों की संख्या अधिक ही थी। कुंतलाधिपति काकुस्थवर्मन स्वयं परम बौद्ध थे इस कारण राज्य-सम्मत धर्म के आधार पर बौद्ध-मत विशेष प्रचलित, प्रचारित व माननीय था।

संघाराम में भिक्षु उपगुप्त अपने अन्यान्य शिष्यों सहित एकान्तवार्ता कर रहे थे तभी भिक्षु श्रुतदेव ने प्रारम्भ किया—"कल महाराज शिव मंदिर गये थे। आपने सुना ?"

"हां," यथावत्, सुस्थिर बैठे आचार्य उपगुप्त ने उत्तर दिया।

"आश्चर्य !" दो-तीन स्वर एक साथ प्रकट हुये !

"इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?" आचार्य भिक्षु उपगुप्त ने कहा।

"यही कि महाराज की आस्थायें परिवर्तित हो रही हैं। महाराज काकुस्थ वर्मन शिव-मूर्ति की वन्दना करें। इससे महान् आश्चर्य और क्या होगा आचार्य !" भिक्षु तिष्यदेव ने उत्तर दिया।

"आश्चर्य यह नहीं आश्चर्य यह है कि हमारे भिक्षुओं में संकुचित भावना प्रवेश पा रही है," आचार्य ने तत्परतापूर्वक कहा।

आचार्य के इस कथन पर उपस्थित भिक्षु एक क्षण को मौन होगये तथा एक-दूसरे की ओर प्रश्नात्मक रूप में देखने लगे।

आचार्य भिक्षु उपगुप्त की प्रसिद्धि न केवल कुंतल में ही थी अपितु उनकें सन्त-जीवन, उनकी विद्वत्ता, उनकी उदारता, सहिष्णुता की कीर्ति देश-देशान्तरों में प्रचारित थी। उनके गुरु-गम्भीर व्यक्तित्व के समक्ष कोई भी नत-मस्तक हुये बिना नहीं रहता था। इस समय आचार्य उच्चासन पर विराजमान थे तथा संघाराम की व्यवस्था से सम्बन्धित किन्हीं गम्भीर विषयों पर विचार करना चाहते थे, किन्तु कुंतलाधिपति महाराज काकुस्थ वर्मन के शिव-मन्दिर में जाने के प्रसंग को लेकर जो चर्चा जन-जन में व्याप्त थी उसका प्रभाव संघाराम में भी पर्याप्त था। इस समय भी मूल विषय छोड़कर वही प्रसंग छिड़ गया। यों आचार्य के उत्तर से सभी मौन हो रहे थे किन्तु वे प्रसंग को और आगे बढ़ाना चाहते थे तभी भिक्षु तिष्यदेव ने पुनः प्रारम्भ किया—"घटना जिस प्रकार की है उसकी चर्चा तो अपेक्षित है ही।"

"कदापि नहीं, किन्तु मानवगत दुर्बलता के आधार पर प्रत्येक विषय की अतिरंजित चर्चा सर्वथा अपेक्षित है जिससे प्रायः भिक्षु-जन भी अछूते नहीं रह पाते।" आचार्य की स्पष्टोक्ति पर तिष्यदेव की आकृति के भाव परिवर्तन को देखकर अन्यान्य भिक्षु भी अब उस प्रसंग को समाप्त कर देने का विचार करने लगे तभी आचार्य ने पुनः धीरतापूर्वक व्यक्त किया—"महाराज काकुस्थ वर्मन के शिवालय जाने का कारण पूर्णतः वैयक्तिक है·····।"

"तब आचार्य उसका कारण जानते हैं ?" भिक्षु जयमित्र बोल उठे।

"हाँ।"

"क्या उस पर आचार्य कुछ प्रकाश डालेंगे ? हम भी जो इस प्रसंग पर इतने तत्पर हैं उसका एक कारण है, आचार्य ! साधारण जन व एक शासक में बड़ा अन्तर है, भगवन् ! साधारण जन का कार्य नगण्य हो सकता है, किन्तु एक शासक के दृष्टि-निक्षेप का भी बड़ा महत्व है। महाराज काकुस्थ वर्मन परम बौद्ध हैं—यह तथ्य कुंतल में ही नहीं सर्व विख्यात है। शिवालय जाकर भाव-परिवर्तन की जो चर्चायें यत्र-तत्र प्रचलित हो रही हैं उससे हमारी स्थिति में आकुलता प्रकट होना प्रतीत होता है आचार्य," भिक्षु जयमित्र कहते गये।

"महाराज काकुस्थ वर्मन अथवा उसी प्रकार कोई शासक, कोई सम्राट या कोई भी व्यक्तिविशेष यदि पूर्णतः शैव ही हो जावे, पूर्णतः वैष्णव हो जावे, जैन हो जावे अथवा किसी अन्य मत-मतान्तर को मान लेवे तो बौद्ध-धर्म की स्थिति में आकुलता प्रकट होगी यह मैं कभी नहीं मान सकता। हाँ, आप भिक्षुओं में आकुलता व्याप्त है यह मैं जानता हूँ और केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि आप महानुभाव अधीर न हों। महाराज का शिव-मंदिर जाना पारिवारिक समस्याओं से सम्बन्धित है जिनका प्रकट होना उनके हित में अभीष्ट नहीं है," आचार्य भिक्षु उपगुप्त ने प्रकट किया।

यह सर्वथा उपयुक्त है किन्तु उस घटना का सम्बन्ध हमारी धार्मिक मान्यताओं से जुड़ रहा है, अतएव यदि उस कारण को हम भी जान लें तो क्या हानि है ? उससे और कुछ नहीं तो हमें एक लाभ यह होगा कि हम वैसे प्रसंगों पर यथार्थ उत्तर दे सकेंगे," भिक्षु तिष्यदेव ने कहा।

"आप भिक्षुओं की स्थिति तो साधारण जन से भी हेय होती जा

रही है। सहिष्णुता की शक्ति तो जैसे आप में विलीन ही होगयी है। मैं पूछता हूँ कि क्या यह आवश्यक है कि प्रत्येक प्रश्न, प्रत्येक घटना, प्रत्येक कारण को आप जानें ही ? क्या कुंतल का शासक अपनी प्रत्येक गति-विधि का आपके प्रति उत्तरदायी है ? कहिये, ऐसी क्या बात है ? आप इतने अधीर क्यों हैं ? और यदि इस प्रसंग पर इतने अधीर हैं तो उस प्रश्न के सम्बन्ध में मुझे उत्तर दीजिये जिसके कारण मैंने आप सब को यहाँ एकत्र किया है। उस भिक्षु दयाराम के कृतकर्म के प्रसंग पर तो आप किंचित् भी व्यग्र नहीं दिख रहे हैं। आप जानते हैं—उस घटना से समस्त संघाराम अपमानित हो रहा है। उस कुकृत्य पर कुंतल के नागरिकों में महान् क्षोभ प्रकट हो रहा है। उसके सम्बन्ध में आप जनता को क्या उत्तर दे रहे हैं ?" आचार्य ने किंचित् आवेग सहित व्यक्त किया।

उस निःशब्द वातावरण में सभी भिक्षु महाराज काकुस्थ वर्मन को भूलकर भिक्षु दयाराम में लीन हो गये।

"आचार्य प्रवर ! प्रसंग वह भी वैयक्तिक है। किसी व्यक्ति के कर्म के हम उत्तरदायी कैसे ? समस्त संघाराम भी उसका उत्तरदायी नहीं है," भिक्षु जयमित्र ने कहडाला।

"है। समस्त संघाराम उस कुकृत्य के प्रति उत्तरदायी है। हम आप सब उसके उत्तरदायी हैं। हम इतनी हेय स्थिति में पहुँचते जा रहे हैं, इसका हमें आभास भी नहीं हो रहा है और हम एक साधारण प्रसंग को इतना बड़ा महत्व देने पर तुले हुये हैं। मैं पूछता हूँ कि क्या कुंतल के शासक ने बौद्ध-धर्म को तिलांजलि देने की घोषणा कर दी है ?"

आचार्य के शब्दों की तीक्ष्णता में उपस्थित भिक्षु संघाराम की घटना पर ज्यों प्रथम बार आन्दोलित हो उठे। तभी आचार्य ने पुनः प्रारम्भ किया—"श्रेष्ठि धनपाल की पुत्री के प्रति भिक्षु दयाराम का

अशोभनीय व्यवहार अक्षम्य अपराध है। उसका उत्तरदायित्व, आपको मानना पड़ेगा, समस्त संघाराम पर है। भिक्षु दयाराम को संघ से पृथक् करके ही वातावरण की उग्रता का शमन नहीं होगा। हमें पश्चात्ताप करना होगा। हम सब को उस घटना के हेतु प्रायश्चित्त करना होगा।"

"आप आदेश देवें। हम सब प्रायश्चित्त करेंगे·····," अनेक स्वर एक साथ प्रकट हो गये।

इतने पर भी कुंतलाधिपति महाराज काकुस्थवर्मन के शिव-मन्दिर जाने का स्पष्टीकरण न हो सका जिससे अन्य नहीं तो भिक्षु तिष्यदेव अत्यधिक व्यग्र हो रहा था।

× × × ×

"महाराज विगत दिवस शिव-मन्दिर गये थे," सन्धि-विग्रहीक रुद्रसेन ने प्रकट किया।

"कारण तो आप भी जानते हैं," सचिव सोमदेव ने उत्तर दिया।

"किन्तु राजकुमारी अपने स्थान पर दृढ़ है। उसने स्पष्टतः नकार व्यक्त कर दिया है।"

"राजकुमारी क्या समझती है कि इस सबमें कितना महान् राजनीतिक महत्व सन्निहित है," सोमदेव ने प्रकट किया।

"परिणय का सम्बन्ध परिणय से है अथवा राजनीतिक महत्व से।"

"मगध राजकुमार से परिणय का अर्थ भी यह नहीं है कि परिणय का अर्थ परिणय से न होकर राजनीतिक महत्व से हो। इसमें वह महत्व तो एक विशेषता है," सोमदेव ने कहा।

"किन्तु राजकुमारी की स्वीकृति भी परमावश्यक है," रुद्रसेन ने व्यक्त किया।

"वह श्रेय तुम्हीं प्राप्त कर लो, न। ललितांगी की सहमति प्राप्त करने में तुम सफल हो सकते हो।"

"मैं तो नहीं किन्तु मेरी दृष्टि में एक व्यक्ति है जिसके लिये मैं प्रयत्न करूँगा," सन्धि-विग्रहीक रुद्रसेन ने विश्वास-पूर्वक प्रकट किया।

५

महान् शक्तिशाली मगध सम्राट चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र उस काल भारत की सर्वश्रेष्ठ नगरी थी। पाटलिपुत्र के एक ओर रमणीय सोन नदी तथा दूसरी ओर पतित पावनी गंगा प्रवाहित होती थी। शान्ति तथा शासन के वैभव, धन-धान्य, वाणिज्य-व्यापार से परिपूर्ण पाटलिपुत्र नगर की यह विशेषता थी कि उसमें लक्षाधीशों की अट्टालिकायें थीं, नगर-श्रेष्ठियों के भव्य-भवन थे, अनेक पाठशालायें थीं, दो विशाल बौद्ध मठ थे जिनमें सहस्रों बौद्ध भिक्षु प्रवास करते थे, अनेक दातव्य औषधालय थे जिनमें राज्य की ओर से निःशुल्क औषधि वितरित होती थी, एक ओर बौद्ध संघाराम थे तो दूसरी ओर अनेकानेक शिव-मन्दिर, विष्णु-मन्दिर व जैन-मन्दिर भी थे। एक ओर रेशम, स्वर्ण रत्न, वस्त्रों के व्यापारी थे तो दूसरी ओर मांस, मदिरा, लहसुन, प्याज का कहीं नाम नहीं लिया जाता था।

पाटलिपुत्र के व्यापारियों के पास अतोल सम्पत्ति भरी पड़ी थी। कोई बंगाल के सूती वस्त्रों तथा रेशमी वस्त्रों का व्यापार करता था तो कोई बिहार के नील में लिप्त रहता था। हिमालय के पर्वतीय राज्यों से अङ्गराग, दक्षिणी राज्यों से कपूर, चन्दन तथा मसाले लाये-ले जाये

जाते थे। यह सामग्री रोम देश तक भेजी जाती थी और वहाँ से अतोल स्वर्ण भारत आता था।

नगर-श्रेष्ठियों के सार्थवाह अहर्निशि भ्रमण कर व्यापार-वाणिज्य में वृद्धि करते रहते थे।

यों वस्तुओं का लेन-देन कौड़ियों के मोल से होता था किन्तु स्वर्ण तथा रजत के अम्बार लगे रहते थे। जनता में परम सुख तथा सन्तोष था।

पाटलिपुत्र भारत का सर्वाधिक विशाल नगर था। वह साढ़े नौ मील लम्बा तथा पौने दो मील चौड़ा था। नगर के चतुर्दिक एक खाई खुदी हुई थी जिसकी चौड़ाई छह सौ छः फीट तथा गहराई पन्द्रह गज थी। नगर की रक्षार्थ एक भारी परिकोटरा खिंचा हुआ था जिसमें चौंसठ भव्य द्वार व पाँच सौ सत्तर उच्च तोरण बने हुये थे।

पाटलिपुत्र में मगधाधिपति के भव्य राजप्रासाद सोन तथा गंगा दोनों तटों पर बने हुये थे। राज-भवनों में एक ओर यदि ईरान की भवन-निर्माण कला के दर्शन होते थे तो दूसरी ओर रोम की भव्यता दिग्दर्शित होती थी। उस समय तक भारत में ईरान व रोम देश के विदेशी आ-आकर लौट चुके थे। प्रतीत होता था उन देवतुल्य राज-प्रासादों को स्वयं विश्वकर्मा ने अपने हाथों रचा है।

राज-प्रासादों में चतुर्दिक विस्तृत उद्यान बने हुये थे जिनमें मयूर, शुक, पिक तथा काकली के मादक-स्वर हर समय सुनायी पड़ते थे।

महान् चन्द्रगुप्त के राज-महालय के विस्तृत कानन में अवस्थित दीर्घ सरोवर में नाना प्रकार की सतरंगी मछलियाँ जल में नर्तन किया करती थीं।

समस्त नगर तीस उप-समितियों में विभक्त था जो शासन एवं सुव्य-वस्था के कार्य करती थीं। कोई समिति कला-कौशल का प्रबन्ध करती तो कोई विदेशियों की देख-भाल करती थी। कोई जन्म-मरण का लेखा

देखती तो कोई व्यापार-वाणिज्य संभालती थी। कोई क्रय-विक्रय का भार लिये हुये थी तो कोई नगर की सुरक्षा का।

× × × ×

सोन नदी के तट पर अवस्थित राज्य-महालय में मगधाधिपति चन्द्र-गुप्त सिंहासनारूढ़ थे। उनके समक्ष वृहत् राज्य-सभा आयोजित थी। स्वर्ण सिंहासन के वाम एवं दक्षिण पार्श्व में स्वर्ण-पीठिकाओं पर परम मेधावी कवि एवं नाट्यकार कालिदास, लब्ध-प्रतिष्ठ विशाखदत्त, अमर-कोषकार अमरसिंह, आयुर्वेदाचार्य धन्वन्तरि प्रभृति विशिष्ट रत्न विराज रहे थे।

मगधाधिपति किसी प्रतीक्षा में लीन थे। वे अनेक बार संथागार के मुख्य -प्रवेश-द्वार की ओर झाँक लेते थे। अनेक सचिव निकटस्थ हो आवश्यक परामर्श में दत्तचित्त थे। अमर नाट्यकार कालिदास एवं विशाख-दत्त नाट्य-शास्त्र के विरचन की किसी सांस्कृतिक-गुत्थी को सुलझा रहे थे तभी मगधाधिपति अनायास खिल उठे।

समक्ष ही, निमिष मात्र में, उनके सन्धि-विग्रहीक वीरसेन ने सभा-स्थल में प्रवेश कर महाराज चन्द्रगुप्त को दीर्घ अभिवादन किया।

"क्या उत्तर लाये सचिव ?" मगधपति ने तत्काल प्रश्न किया।

"स्वीकृति।"

"बधाई वीरसेन ! तुम्हारी सफलता पर मुझे मान है," महाराज चन्द्रगुप्त ने व्यक्त किया और अट्टहास कर उठे जिससे समस्त सभा-मण्डप गूँज गया।

"महाराज ! कुंतलाधिपति काकुस्थवर्मन ने मेरा अत्यधिक सम्मान किया और ऐसा आतिथ्य कि मैं जीवन-पर्यन्त नहीं भूल सकता।"

"वह तो स्वाभाविक था वीरसेन ! तुम मगध के राजदूत होकर गये थे और वह भी मगध युवराज के हेतु काकुस्थवर्मन की कन्या का

वाक्दान प्राप्त करने," मगधपति ने किंचित गर्व सहित व्यक्त किया। कहते-कहते प्रसन्न-मुद्रा में महाराज चन्दगुप्त ने अपने चतुर्दिक दृष्टि दौड़ाई। महाराज के नव-रत्न, मन्त्रिन, अन्य सचिव, मगधपति के अभिन्न कुछेक श्रेष्ठिजन भी मुस्करा रहे थे।

"कुमारगुप्त कहाँ है ?" महाराज ने अनायास प्रश्न कर दिया। उस समय कुमार का स्वर्णासन रिक्त था।

"यह शुभ-सूचना युवराज को जितने विलम्ब मे मिले अच्छा है, महाराज !" खिलखिलाहट में कवि कालिदास कह उठे।

६

मगध राजमहालय के प्रमदोद्यान में महाराज्ञी ध्रुवस्वामिनी प्रस्तर पीठिका पर बैठी थी। निकट ही हरित दूर्वा पर एक मयूर-दम्पत्ति ठुमुक-ठुमुक कर चल रहा था। प्रस्तर पीठिका के वाम पार्श्व में एक शुक अपने पंख फड़फड़ा कर अभी-अभी उड़ गया था। विचार-मग्न ध्रुवस्वामिनी का ध्यान टूटा और तब पुनः विलीन हो गया। अनेक बार राज्य-प्रसंगों तथैव ग्रह-जाल से मुक्ति पाकर महाराज्ञी ध्रुवस्वामिनी इसी प्रकार एकान्तिक हो राजमहालय के काननों के किसी न किसी एकान्त स्थान पर बैठ कर अतीत की स्मृति में डूब जाती थी, अथवा भविष्यत् विधानों पर तार्किक मनन किया करती थी।

दो दिवस से महाराज चन्द्रगुप्त द्वितीय महाराज्ञी कुबेरनाग के प्रासाद में थे। अतः वियोग-विराग के क्षणों में ही ध्रुवस्वामिनी प्रमदोद्यान की प्राकृतिक सुषमा को निहार रही थी। तभी अनायास स्वर गूंजा—"महाराज्ञी ! महाराज्ञी !·····ध्रुवस्वामिनी।"

ध्रुवस्वामिनी ने महाराज का स्वर पहचाना और तात्कालिक सौभाग्य के पुलक में पलक मूंद कर शान्त सुस्थिर भाव से पीठिका त्याग कर स्वागत में उठ खड़ी हुयी।

"ध्रुवस्वामिनी ! तुमने सुना ?"

"क्या महाराज ?"

"तुम्हारे युवराज का लग्न निश्चित हो गया ।"

"सुन लिया था देव ! किन्तु आपके मुख से सुनने की अभिलाषा थी । मैं कृतकृत्य हुई महाराज !"

"तुम्हारे पुत्र का लग्न निश्चित हुआ है । अब तो मैं मिष्टान्न का अधिकारी हो गया , न?"

"वे समस्त अधिकार आप ही के तो हैं । और मैं भी·····क्या मेरे अधिकारी आप नहीं हैं ?"

"हूँ ," कहते हुये चन्द्रगुप्त ने आगे बढ़कर महाराज्ञी ध्रुवस्वामिनी का कोमल-कर स्पर्श कर लिया ।

"महाराज !·····"

"जानता हूँ कि कुबेरनाग के प्रासाद से आने के कारण तुम्हारे अन्तर्मन में प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक है·····।"

"महाराज ! यह मेरे प्रति अन्याय है । मैं ऐसा कभी नहीं सोचती । वह भी स्नेह की समान अधिकारिणी है । उसके प्रति भी आपका कर्तव्य है कि आप उसकी प्राकृतिक क्षुधा को शान्त करें·····।"

"वह स्नेह की समान अधिकारिणी कैसे हो सकती है ध्रुवस्वामिनी ? स्नेह की आस्था एक पर केन्द्रित होती है । स्नेह-प्रेम एक-निष्ठा की प्रभावना है देवि !···और वह, तुम, वह···।"

"ठीक है । मैं परम सौभाग्यशालिनी हूँ किन्तु लोक-रीति के साथ ही स्वधर्म का निर्वाह भी आवश्यक है महाराज !"

"वह तो है । उस विवशता का मैं निर्वाह भी कर रहा हूँ । स्वर्गीय पिता सम्राट् समुद्रगुप्त ने जो बन्धन बांधे थे उनकी जकड़न में कसा तो हूँ, ध्रुवस्वामिनी !"

"ऐसा न सोचिये देव ! यदि एक ओर उन यशस्वी सम्राट् के एक दिव्य साम्राज्य का अधिकार सुख भोगने की क्षमता आप में है तो सुन्दरी कुबेरनाग भी आपके सौख्य की अधिकारिणी है ।"

"किन्तु मन मानस·····।"

"वह वैयक्तिक अधिकार है परमप्रिय !"

"होगा·····ध्रुव ! चलो," कहते हुये जो स्नेह संकेत चन्द्रगुप्त ने किया उससे अतिरेक में हठात् ध्रुवस्वामिनी प्रमदोद्यान से प्रासाद की ओर बढ़ गयी।

"हां तो देव ! ललितांगी·····?" उद्यान से प्रासाद की प्रस्तर सीढ़ियों पर पग रखते हुये महाराज्ञी ध्रुवस्वामिनी ने अनायास प्रश्न कर दिया।

"उसकी स्वीकृति संदिग्ध है सम्राज्ञी ! किन्तु काकुस्थ वर्मन ने परिणय की स्वीकृति दे दी है," मगधपति चन्द्रगुप्त ने ध्रुवस्वामिनी का वामकर अपने हाथ में लेते हुये व्यक्त किया।

"कार्य अपूर्ण ही है देव !"

"ऐसा नहीं है। ललितांगी तत्पर हो ही जावेगी।"

"कुमार कब लौटेगा महाराज ?"

"तुम्हारा कुमार जहाँ भी जाता है विजय-श्री उसका आह्वान करती है। सौराष्ट्र से निरन्तर सुसमाचार ही आ रहे हैं।"

"मेरा नहीं आपका कुमार ! आपका युवराज ! मगध का युवराज ! आपके पिता के साम्राज्य का रखवाला ! आपके साम्राज्य का सेवक ! कहते-कहते ध्रुवस्वामिनी ममत्व में भरती चली गयी। पुत्र की स्मृति से हर्षित माता के नेत्रों से स्नेहाश्रु उमड़ आये।

विचित्र सी स्थिति थी उस समय उस नारी की, सम्राज्ञी ध्रुवस्वामिनी की। एक ओर रतिक्रीड़ा की भावी कल्पना में वह द्रवित हो रही थी। मगध सम्राट् उसके पार्श्व में चलकर उसे शयन-कक्ष की ओर लिये जा रहे थे। तत्क्षण ही उसमें मातृत्व उमड़ रहा था।

× × ×

दोपहरी छितरी हुई थी। सम्राट् चन्द्रगुप्त सम्राज्ञी ध्रुवस्वामिनी के साथ विलास कक्ष में थे। वे रह-रह कर ध्रुवस्वामिनी के मांसल अंग-प्रत्यंगों को उत्पीड़ित कर रहे थे। ध्रुवस्वामिनी विह्वल होकर सम्राट् में सिमटती चली जा रही थी।

तभी, वैसी केलि-स्थिति में कभी-कभी जैसा स्वाभाविक होता है—ध्रुवस्वामिती दुश्चिन्ता में घिरती चली गयी।

"महाराज !"

"क्या हुआ सम्राज्ञी ? इस क्षण तुम्हारे मस्तक पर ये चिन्ता की रेखाएँ कैसी ?" सम्राट् ने अनायास ही अपने को व्यवस्थित करते हुये कहा।

"यही कि आप सा सौभाग्य पाकर भी मैं अपने दुर्भाग्य से प्रतिपल काँपती रहती हूँ·····।'

"किन्तु इस समय क्या हुआ ?"

"अनायास ध्यान आ गया महाराज कि कहीं कुबेरनाग तो कोई गड़बड़ी नहीं करेगी ?

"कैसी गड़बड़ी ?"

"नागवंश व कुंतल के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर वह ललितांगी पर कोई प्रभाव·····," ध्रुवस्वामिनी अपने वस्त्रों को समेट कर उठ बैठी।

"यह कैसी कुसमय की रागिनी छेड़ दी तुमने ? भला वैसा भी कहीं सम्भव है ? मैं कुबेरनाग से वैसी आशा स्वप्न में भी नहीं कर सकता। तुमसे स्पर्धा का अर्थ वह कदापि नही हो सकता। और फिर कुमार के लिये एक ही ललितांगी तो नहीं है·····," सम्राट् ने सगर्व प्रकट किया।

"किन्तु कुमार के हृदय को क्या करेंगे, आप ?"

"यदि ऐसा है तो हम कुमार को उत्साहित करेंगे कि बल से वह अपने हृदय की तृप्ति का सन्धान करे," सम्राट् चन्द्रगुप्त ने पर्यङ्क की स्वर्ण-पीठिका पर उढ़कते हुये व्यक्त किया।

प्रथम तो, ध्रुवस्वामिनी पुनर्वार अपनी अतीत स्मृतियों में डूब गयी तब अनायास चैतन्य होकर सम्राट् के वक्ष पर विलीन हो गयी।

७

उज्जयिनी पर मगध-पति चन्द्रगुप्त की विजयध्वजा फहर जाने के अनन्तर विजयाकांक्षा में दृष्टि टिकी तो सौराष्ट्र पर जा अटकी। मगध व सौराष्ट्र की शत्रुता दीर्घकाल से चली आ रही थी। यों मगध के समक्ष सौराष्ट्र एक नगण्य साम्राज्य था किन्तु विगत समर में सौराष्ट्र ने शकराज सिंहसेन को धन-जन से सहायता पहुँचाई थी। किसी भी राज्य से शत्रु सम्बन्ध बन जाना और वेही कारण अन्ततः युद्ध के हेतु उन्मुख करें तो उसके लिये इतना पर्याप्त था।

अस्तु, इस समय मगध की मेघ-वाहिनी सेनाएं सौराष्ट्र के चतुर्दिक घेरा डाले पड़ी हुई थीं। इसका नेत्रत्व कुमारगुप्त कर रहा था।

सौराष्ट्र-मगध युद्ध में सामरिक स्कंधावार विस्तार पा रहा था। दूर-दूर तक मगध सैनिकों के अस्थायी युद्धप्रवासों के वितान फैले हुए थे। लगभग अर्ध-लक्ष सेना सौराष्ट्र की सीमा पर घिरी हुई थी। इसके अतिरिक्त विजित देशों के सैनिक भी मूल सेना से पृथक् होकर साथ थे।

सामरिक सेनानायकों में महाकवि कालिदास भी युवराज की सहायतार्थ सौराष्ट्र युद्ध में भेजे गये थे। इनके साथ महाबलाधिकृत कृतांत तथा अन्यान्य कुशल सैन्याधिकारी थे। यही नहीं युद्ध-

कर्ता सुयोग्य मंत्रियों का एक दल भी सम्राट् चन्द्रगुप्त ने युवराज के साथ भेजा था।

सौराष्ट्र की सीमाओं के आस-पास भयंकर संग्राम चलता रहा। सौराष्ट्र के सैनिक जी तोड़ कर लड़ते रहे। सौराष्ट्र की सहायतार्थ एतद्देशीय कुछेक छोटे-छोटे राज्यों की सैनिक-श्रेणियाँ एवं अन्यान्य शक क्षत्रपों की सामरिक शक्ति भी आयी हुई थी। इस सम्मिलित शक्ति के होते हुए भी मगध की विजयवाहिनी अत्यधिक प्रबल एवं शस्त्रास्त्रों से पूर्ण थी।

दिन ढल चुका था। रात्रि की शान्ति में युवराज कुमारगुप्त अस्थिर चित्त होकर, एक कोने में खड़ा विस्तृत स्कंधावार पर दृष्टिपात कर रहा था। अनायास ही अपने वितान के प्रवेश-द्वार पर उसकी दृष्टि जो गई तो उसने देखा सैनिक-वेशधारी कवि-सम्राट् कालिदास एवं अन्यान्य युद्ध सचिव प्रतीक्षा में खड़े हैं। तत्काल ही पार्श्व प्रवेश-द्वार से युवराज कुमारगुप्त अपने वितान में पहुँच गया और उसने दौवारिक को आदेश दिया कि वह उन भद्रजनों को अन्दर ले आवे।

स्कंधावार में कहीं स्वर्णासन अथवा स्वर्ण-पीठिकायें तो थी नहीं। युद्ध सामग्री सहित जो विशेष वस्तुएं महाराज, युवराज, सैन्य बलाधिकृत आदि के लिए ले जायी जाती हैं, उसी प्रकार की सामग्री युवराज के सामरिक प्रवास-स्थान में सज्जित थी। एक उच्च काष्ठ-पीठिका पर युवराज विराज रहा था उसके समक्ष ही पड़ी कुछेक अन्य काष्ठ-पीठिकाओं पर आगन्तुक जन बैठने का उपक्रम करने लगे।

"बधाई! युवराज बधाई!"

"कैसी बधाई कवि सम्राट्!" युवराज ने सबसे पीछे आने वाले कवि कालिदास की अभ्यर्थना में अपना स्थान छोड़ कर खड़े होते हुए कहा। यों युवराज निरन्तर अपनी पीठिका पर आसीन रहा किन्तु अपने पितृव्य चन्द्रगुप्त के अभिन्नतम मित्र कवि कालिदास के आगमन पर

कुमारगुप्त एक पल को उठ खड़ा हुआ और तब कवि-प्रवर के आसन ग्रहण करते ही वह पुनः अपने आसन पर बैठ गया।

"हाँ तो किस प्रकार की बधाई है महत्जन !"

"इस काल की परम लावण्यमयी कुंतल राजकुमारी ललितांगी से आपके परिणय की वार्ता निश्चित हो गयी है न, युवराज ! वही सूचना महारानी ध्रुवस्वामिनी ने यहाँ भेजी है···।"

तत्काल ही युवराज को माता का स्मरण हो आया साथ ही ललितांगी की रूप-ज्योत्स्ना की स्मृति-छाया उसके मस्तिष्क में प्रवेश पागयी। उस समाचार को सुनकर, निश्चयेन, युवराज कुमारगुप्त को परम हर्ष प्राप्त हुआ किन्तु उसको अव्यक्त रखकर ही उसने प्रकट किया— "इसमें आपकी बधाई का क्या प्रश्न है, कवि-प्रवर ! आपका तो आशीर्वाद चाहिये देव !"

"आशीर्वाद, मंगल-कामना, शुभ-कामना, बधाई·····यह सब कुछ प्राप्त करो युवराज ! शतायु हो। दिग्विजयी हो·····।" कवि सम्राट् कालिदास गद्गद् होकर प्रकट करते रहे।

तत्क्षण ही प्रतिहारी सैनिक ने अतिशीघ्रता में प्रवेश किया।

"क्या है !" जिज्ञासा में सैन्य बलाधिकृत कृतांत ने प्रश्न किया।

"देव ! सूचना आई है कि समस्त शत्रु सेना ने युद्ध-स्थल त्याग दिया है। वह अनायास ही दुर्ग में घुस गयी है।"

"सुसम्वाद। मंगल-सूचनायें। यह परिणय परम शुभ होगा— युवराज !" कवि कालिदास ने व्यक्त किया। वे निरन्तर कहते गये— "अच्छा ही हुआ। सौराष्ट्र ने अपने धन-जन की पर्याप्त हानि उठा ली है। उसके आधे से अधिक सैनिक वीर गति को प्राप्त हो चुके हैं। पन्दरह-अठारह दिनों के इस विकट युद्ध के अनन्तर सौराष्ट्र में अब यह

क्षमता नहीं थी कि मगध सेना के समक्ष अधिक टिक सकता। किन्तु, आश्चर्य है कि सन्धि-प्रस्ताव अभी भी नहीं आया है·····।"

"प्रतीत होता है दुर्ग से युद्ध चलता रहेगा," सैन्य बलाधिकृत कृतांत ने व्यक्त किया।

"सौराष्ट्र दुर्ग की समाप्ति एक दिवस का कार्य है सैन्य-बलाधिकृत या नहीं ?" युवराज कुमारगुप्त ने तत्परतापूर्वक प्रश्न किया।

"निश्चयेन।"

× × ×

उस रात्रि जो कल्पना-चित्र युवराज कुमारगुप्त के मस्तिष्क को उद्वेलित किये रहा उससे युवराज को सम्पूर्ण रात्रि निद्रा नहीं आई। उसके उस सामरिक स्कंधावार में, उस युद्ध-स्थल में, उस वितान में, शयन-विश्राम करते-करते जो ललित-रूप मन-मानस को विलोड़ित करता रहा उसमें सौराष्ट्र-मगध के युद्ध-दृश्य विलीन हो गये। अब स्वप्नालोक में ललितांगी का रूप-सौष्ठव युद्ध से भी अधिक कठिनतापूर्वक घेरा डाले रहा।

युवराज कुमारगुप्त को ध्यान आया वह दृश्य। एक दिवस वह माता ध्रुवस्वामिनी के साथ देवगढ़ के दशावतार मंदिर में देवार्चना कर रहा था। मंदिर के वाह्य स्थल में मगध के अंग-रक्षक अश्व सैनिक रक्षा-पंक्तियों में खड़े थे।

तत्क्षण ही एक सुमुखि अपने सखि-समूह सहित देव-दर्शन के हेतु आगे बढ़ी। उसकी दिव्य-रूप-ज्योति देखकर एक-एक दर्शनार्थी हतप्रभ रह गया और उसी प्रकार वह भी।

उस अप्सरि-रूप ने देव-दर्शन किये। अर्चना के पुष्प अर्पित किये। कुछ क्षण ध्यानस्थ हो यथावत् भूमि पर बैठी रही और तभी अनायास वह उठी और चल दी। उसके पीठ मोड़ते ही मगध सम्राज्ञी ध्रुव-

स्वामिनी ने कुमारगुप्त के निकट आकर मन्द-स्वर में कहा—"जानते हो यह कौन है ?"

अब मां को वह क्या उत्तर देता। वह मौन हो रहा। वस्तुतः वह जानता भी नहीं था कि वह रूपसि कौन थी ?

"कुंतल राजकुमारी ललितांगी," महाराज्ञी ध्रुवस्वामिनी ने व्यक्त कर दिया।

तब वह ध्यान करता रहा—मगध, कुंतल साम्राज्यों के उस मिलन का। उस देव-मंदिर में एक समय में ही मगध की महाराज्ञी एवं युवराज साथ ही कुंतल की राजकुमारी का। उसी क्षण से, उस प्रथम दर्शन के अनन्तर से ही सम्राज्ञी ध्रुवस्वामिनी ने ज्ञात किया था कि पुत्र ने उस राजकुमारी की ही माला फेरना प्रारम्भ कर दिया है।

तभी एक दिवस उसने माता से कहा—"माँ ! कुंतल को दूत भेज दो·····मैं·····।"

"समझी कुमार ! आज ही सम्राट् से कहूँगी।"

और उस सबका, प्रतिफल अभी ही उसने कवि सेनानी कालिदास के मुख से सुना। उसे भी लगा समाचार कितना मंगलमय था। परिणय-सम्वाद सहित सौराष्ट्र की सेना के पलायन का समाचार—दोनों ही कैसे सुखद सगाचार थे। जीवन में प्रथम बार ही उसने किसी युद्ध का स्वतंत्र रूप से संचालन किया था। उसने स्वयं इच्छा व्यक्त की थी—"महाराज ! सौराष्ट्र विजय के हेतु मैं जाऊंगा।"

× × ×

प्रातःकाल होते-होते सौराष्ट्र का प्रचंड दुर्ग मगध सेना ने घेर लिया। युवराज कुमारगुप्त का आदेश था कि किसी भी नागरिक को न सताया जाय अतः केवल युद्ध में रत सैनिक सौराष्ट्र के दुर्ग को ध्वंस करने में लगे रहे।

दुर्ग के यातायात के सभी मार्ग अवरुद्ध कर दिये गये। युद्ध-विद्या-

विशारद मन्त्रि-गण दुर्ग-वेध की योजनायें बनाने लगे। उन्होंने छद्म-वेश-धारी व्यक्तियों, अव्यक्त संकेतों एवं दुर्ग में जाने के गुप्त मार्गों का पता लगाने के हेतु गुप्तचर छोड़ दिये। मगध सैन्य बलाधिकृत कृतांत ने कुछ सैनिकों को छद्म वेश में नगर की पान्थशालाओं में विश्राम करने के ध्यान से किन्तु शत्रु की गति-विधि के रहस्य को जानने के प्रयोजन से भेज दिया किन्तु कुछ ही घंटों में सूचना मिली कि नगर के रक्षक सैनिकों ने उन्हें बन्दी बना लिया है। उधर सौराष्ट्र के भी कुछ दूत तथा छद्म वेशी युद्ध-बन्दी बना लिये गये।

अन्ततः संध्या होते-होते दुर्ग का उत्तरीय प्रवेश-द्वार तोड़ दिया गया और मगध सेना ने दुर्ग में प्रवेश पा लिया। पूर्वीय द्वार को सौराष्ट्र राज्य के अन्तर्भेद ने ही तोड़ने में सहायता पहुँचाई। चिरकाल से सौराष्ट्र के मन्त्रि-मण्डल में आपस में विग्रह चल रहा था। उसके एक मन्त्री कुबेरस्वामी ने सौराष्ट्र के पराभव का वैयक्तिक आनन्द प्राप्त किया और अपने चरों द्वारा छलपूर्वक दुर्ग का पूर्वीय द्वार शत्रु के लिए खोल दिया।

देखते-देखते सौराष्ट्र के दुर्ग पर मगध की विजय-पताका फहराने लगी।

× × ×

सौराष्ट्र दुर्ग में ही युवराज कुमारगुप्त की राज-सभा आयोजित की गयी। इस राज सभा में कवि-कुल-कमल कालिदास, मगध सैन्यबलाधिकृत कृतान्त, अन्यान्य युद्ध-सचिव एवं सैन्याधिकारी उच्चासनों पर विराजमान हुये। मगध की आधीनता स्वीकार करने के हेतु सौराष्ट्र के महाक्षत्रप; महासेनापति, महाबलाध्यक्ष, महा सर्व दंडनायक तथा अन्यान्य युद्ध-मन्त्री बन्दी अवस्था में समक्ष उपस्थित किये गये।

विवश दर्शन के हेतु उस राज सभा में ग्रामिक, ग्राम्य महत्तर, नागरिक, श्रेष्ठी, सार्थवाह, कुलिक, निगम संचालक, गौल्मिक, तलवाटक,

ध्रुवाधिकरण, विषयपति एवं उपरिक आदि सभी छोटे-बड़े अधिकारी एवं प्रजाजन उपस्थित हुये।

सभी की उपस्थिति में महाकवि कालिदास ने अपने संक्षिप्त भाषण में सौराष्ट्र की जनता को सुसन्देश दिया और बताया कि मगध की आधीनता वैसी आधीनता नहीं है जैसी कि एक विजित देश पर विजयी साम्राज्य आरोपित करता है। उन्होंने कहा कि यदि चाहते तो सौराष्ट्र के महाक्षत्रप इस स्थिति के पूर्व ही मगध से सन्धि कर मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। किन्तु अब भी सम्राट् चन्द्रगुप्त के समक्ष सौराष्ट्र की जनता के साथ वैसे ही सम्बन्ध रहेंगे जैसे मगध अथवा पाटलिपुत्र की जनता के साथ सम्राट् के रहते हैं।

युवराज कुमारगुप्त के जयघोषों सहित राज-सभा विसर्जित हुई।

सौराष्ट्र-विजय में सौराष्ट्र राज्य के अनेक दुर्गों से प्रचुर कोष, हाथी, घोड़े, सैनिक व युद्ध-सामग्री मगध सेना को प्राप्त हुयी जो मगध राज्य-कोष की श्रीवृद्धि सहित उसके साम्राज्य-विस्तार में सहायक हुई।

युवराज कुमारगुप्त सौराष्ट्र से दोहरी विजय प्राप्त कर लौटा। ललितांगी की भविष्यत कल्पनाएं एवं सौराष्ट्र।

८

हाथियों पर स्वर्ण-रजत अम्बारियाँ चढ़ी हुई थीं। उनके पीछे अश्व एवं क्रमानुसार पदाति सेना चल रही थी। तब पाटलिपुत्र के नागरिकों की अपार भीड़ जयघोष करती हुई चल रही थी। अनेक स्वर्ण-पालकियों पर सम्राट् के नव-रत्न चल रहे थे जिनमें सब के पीछे की पालकी में कवि कालिदास थे। सम्राट् के आगे युवराज कुमारगुप्त का गज मन्थर गति से हिल रहा था और उन सबके पीछे अंग-रक्षकों की अश्व-पंक्तियों के मध्य सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का गज था। इस हाथी पर सोने की झूल पड़ी थी। यह झूल तब प्रयोग में आई थी जब मगध में चन्द्रगुप्त मौर्य शासक था। यह झूल तब गज पर झुलायी गई थी जब बिम्बसार, अजातशत्रु और अशोक मगध पर सिंहासनारूढ़ थे। यह सुवर्ण झूल इसी हाथी पर तब झूलती रहती थी जब भारत का सिकन्दर सम्राट् समुद्रगुप्त मगधपति के आसन पर सुशोभित था।

आज पाटलिपुत्र में उज्जयिनी एवं सौराष्ट्र विजय का एकसाथ आनन्द मनाया जा रहा था। नगर में सर्वत्र तूर्यघोष व जयनाद हो रहे थे। नगर परिकोटरे के उच्च तोरणों में दुन्दुभियाँ बज रही थीं।

सम्राट् चन्द्रगुप्त की शोभा-यात्रा नगर-कीर्तन को निकली थी।

सोन के तट पर अवस्थित राजमहालय से प्रस्थान करने के पूर्व

महाराजमहिषी ध्रुवस्वामिनी ने अपने पति, मगध सम्राट् चन्द्रगुप्त एवं विजयवाहक पुत्र कुमारगुप्त के मस्तकों पर रोचने लगा कर विदा किया था। प्रासाद की राज-रमणियाँ, कुल-कामिनियाँ, गवाक्षों, अलिन्दों से झाँक कर उस दृश्य का सौख्य प्राप्त कर रही थीं। किन्तु यह सब सम्राट् की द्वितीय सम्राज्ञी कुबेरनाग को प्रिय नहीं लगा। वह उदास मन-प्राण लिये, आकृति की दुर्बलता में अपने पर्यङ्क पर ही पड़ी रही।

अन्ततः, युवराज की शोभा-यात्रा नगर-कीर्तन कर गंगा-तट के श्वेत-शुभ्र राजप्रासाद तक जा पहुँची। समस्त प्रासाद नगर के शासनाधिकारियों, नगर-श्रेष्ठियों, सैन्याधिकारियों, सामन्तों से भरा पड़ा था। वे सब नगर-जन जो शोभा-यात्रा के साथ थे प्रासाद के बाह्य-प्रांगणों एवं काननों में छितरे घूम रहे थे। सैनिक सर्वत्र व्यवस्था-संलग्न थे।

शनैः शनैः शोभा-यात्रा का रोर समाप्त हुआ और सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने संथागार में अवस्थित स्वर्णसिंहासन पर आसन ग्रहण किया और उनके तुरन्त पश्चात् ही युवराज कुमारगुप्त ने स्थान ग्रहण किया। सम्राट् चन्द्रगुप्त एवं युवराज कुमारगुप्त के जयकारों ने आकाश वेध दिया।

तदनन्तर मौन-मुखर मुस्कानसहित मुख्य मन्त्रिन से सरल-तरल वार्ता करते हुए कवि-राजाद् कालिदास ने स्वर्णासन ग्रहण किया। धीरे-धीरे सम्पूर्ण राज्य-सभा संचित हो गई। राज्य-परिषद् के सदस्य, भिन्न-भिन्न सचिव, राजस्थानीय गोप्ता, विषयपति, गौल्मिक, अग्रहारिक, निगम-संचालक, प्रथम कुलिक, प्रथम कायस्थ, राजकीय भटाश्वपति, महासेनापति, महाबलाध्यक्ष, महासर्वदंडनायक, तलवाटक, ध्रुवाधिकरण, उपरिक, आदि-आदि यथास्थान विराज गये।

अभिजातवर्गीय कुलगौरव, श्रेष्ठ सामन्त, नगर श्रेष्ठिजनों ने भी यथास्थान ग्रहण किये। उस महती राजसभा के दर्शनार्थी-मगधजन प्रासाद के बाह्य काननों से उचक-उचक कर राज्य-सभा को देखते रहे।

पल भर में सर्वत्र शान्ति विराज गई। सेनापति अम्रकादेव की आकृति में हास झलक रहा था। सन्धि विग्रहीक वीरसेन पृथक् ही मुस्करा रहा था। युवराज कुमारगुप्त के समीप बैठा राजकुमार गोविन्द-गुप्त अपने अग्रज से ठिठोली कर उसे विवश-हास में विभोर कर रहा था।

सम्राट् प्रमुदित होकर निरन्तर कवि कालिदास की ओर निहार रहे थे कि कब वे उठें और कब सभा का कार्यारम्भ हो। कवि ने भी महा-राज की दृष्टियों को परखा। तत्क्षण ही मन्त्रिन के सदय अनुरोध पर कवि कालिदास अपने आसन से उठ खड़े हुए।

सर्वप्रथम उन्होंने सरस्वती वन्दना की।

या कुन्देन्दु तुषार हार धवला—या शुभ्रवस्त्रावृता,
या वीणा वर दण्ड मण्डित करा या श्वेत पद्मासना।
या ब्रह्माच्युत शङ्कर प्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता,
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेष जाड्यापहा।

तदनन्तर उन्होंने अपनी वक्तुता प्रारम्भ की।

"मगधपति परम तेजवान्, यशस्वी, दिग्विजयी सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को मेरी अभ्यर्थना स्वीकार हो।

"परम कान्तिमान युवराज कुमारगुप्त, कुमार गोविन्दगुप्त, उपस्थित विशिष्ट जन एवं पाटलिपुत्र के नागरिकों!

"आपको विदित है आज युवराज कुमारगुप्त ने अपने जीवन में प्रथम बार विजय-श्री का आलिंगन किया है। यह एक विशेष घटना होते हुए भी उन विजयों की इकाइयों में श्रीवृद्धि करती है जिनका आरम्भ हमारे स्वर्गीय सम्राट् समुद्रगुप्त ने किया था।

"हमारे स्वर्गीय सम्राट् की गौरव-गाथा में कुछ वृद्धि नहीं हुई है। यह मैं जानता हूँ किन्तु पूर्वजों का प्रताप यदि वृद्धि पर न हो, केवल स्थिर रहे—व्यवस्थापकों के लिए यही प्रशंसनीय है। हमारे वर्तमान

प्रशासक सम्राट चन्द्रगुप्त में अपने पिता के अनुरूप ही सर्व-गुण-सम्पन्नता प्रस्फुटित हुई है और वैसी ही हमारे युगल कुमारों में भी।

"भगवान् उनको शतायु करे।

"हाँ, तो मैं कहना चाहता था अपने स्वर्गीय सम्राट् की बात जिस के हेतु यह अनुपम एवं उपयुक्त अवसर है। सम्राट् की दिग्विजय अजर-अमर रहेंगी। सम्राट् ने अपनी विजयों से पृथ्वी तल कंपा दिया। उन्होंने क्या नहीं किया? उत्तरी भारत अथवा सम्पूर्ण भारतवर्ष को उन्होंने दिग्विजय किया। रुद्रदेव, मातिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन, नन्दिन, अच्युत, नागसन, गणपतिनाग आदि शक्तिशाली शासकों का दर्प चूर्ण कर सम्राट् ने सम्पूर्ण आर्यावर्त अपने आधीन किया। उन दिनों विन्ध्य पर्वत के जंगली राज्य अधिक उद्दण्ड हो रहे थे। आप जान लें जबलपुर तथा नागपुर के निकट लगभग अट्ठारह अटवी राज्य थे। यह प्रदेश पर्वतीय था तथा इसमें भयानक जंगल पड़ते थे किन्तु हमारे सम्राट् समुद्रगुप्त ने दुर्धर्ष युद्ध करके इन उत्कट योद्धाओं से पद-वन्दना कराई।

"सम्राट् ने जिस प्रकार राज्य-विस्तार किया उसी प्रकार हमारे वर्तमान सम्राट् ने उसे अक्षुण्ण रक्खा और अब युवराज कुमारगुप्त भी रक्खेंगे ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है। उनमें भी वही योग्यता, वही क्षमता विद्यमान है।

"हमारे स्वर्गीय सम्राट् ने, यही नहीं, उत्तर की भाँति दक्षिण के युद्ध-प्रिय राजाओं का दर्प भी विदीर्ण किया। दक्षिण कोशल का महेन्द्र बड़ा धूर्त शासक था। वही क्यों, महाकान्तार का व्याघ्रराज, कौशल का मत्तराज, विष्ठपुर का महेन्द्रगिरि, कोहर का स्वामिदत्त, एरण्डमल्ल का दमन, काँची का विष्णुगोप, अवभुक्त का नीलराज, वेङ्गी का हस्ति-वर्मन, पलक्क का उग्रसेन, देवराष्ट्र का कुबेर तथा कुशलपुर का धनञ्जय भी विनय सहित सम्राट् समुद्रगुप्त को मस्तक झुकाता रहा।

"सम्राट् को इस सब में असंख्य उपहार व अतोल सम्पदा प्राप्त होती रही जो आज भी आपके कोष में सुशोभित है।"

"सीमान्त प्रदेशों में समतट, दवाक, कामरूप, नैपाल तथा कर्तृपुर को भी महाराज ने अपने आधीन किया था। ये सब शासक इसी मण्डप के नीचे उपस्थित हो-होकर सम्राट् को भेंट-उपहार देते थे व प्रभुता स्वीकार करते थे।"

"उन दिनों शासन की विभिन्न प्रणालियाँ भी प्रचलित थीं। साम्राज्य के पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में कुछेक ऐसी जातियाँ थीं जिनमें प्रजातान्त्रिक-राज्य-व्यवस्था थी। सम्राट् से प्रभावित होकर इन सब ने स्वतः ही बिना युद्ध किये उनकी आधीनता स्वीकार की थी··· ।"

"सम्राट् समुद्रगुप्त की जय ! सम्राट् चन्द्रगुप्त की जय ! युवराज कुमारगुप्त की जय ! जय ! के स्वर सर्वत्र प्रकट होने लगे।

तभी कवि कालिदास ने प्रारम्भ किया—"शान्त होइये भद्र जन ! सुनिये ! इन गण-राज्यों में मालवा, आर्जुनायन, यौधेय, मद्र, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, खरपारिक एवं काक प्रमुख थे। ·····

"और बन्धुओ ! इसी राजमहालय से सम्राट् समुद्रगुप्त के अश्वमेध यज्ञ का दिग्विजयी घोष हुआ था। स्वर्ण के पदक निर्मित किये गये। यज्ञ-स्तम्भ बने। असंख्य स्वर्ण-मुद्रायें तथा गौएं दान की गई थीं।"

"सम्राट समुद्रगुप्त की जय।"

आज भी आप में से बहुतों के पास वे मुद्रायें सुरक्षित होंगी जिनमें हमारे स्वर्गीय सम्राट् ने 'अश्वमेध पराक्रमः' अंकित कराया था। जिनमें एक ओर यज्ञ-स्तम्भ में बंधे हुए घोड़े की मूर्ति तथा दूसरी ओर चँवर लिये हुए प्रधान-महिषी की मूर्ति अंकित थी," महाकवि कालिदास निरन्तर कहते गये और उन्होंने तत्काल अपने कंठ में लटकती स्वर्ण-मेखला की पाँच मुद्रायें राज्य-सभा को दूर से ही प्रदर्शित कर दीं।

राज्य-सभा में सर्वत्र शान्ति विराज रही थी। महाकवि कालिदास के

मुख से अपने पूज्य पिता की गौरव-गाथा सुन कर सम्राट् चन्द्रगुप्त गर्वित हो रहा था। उधर महाकवि की जिह्वा पर सरस्वती विराज रही थी। वे कहते ही गये—"हमारे स्वर्गीय सम्राट् ने अपने पिता से एक छोटा-सा राज्य प्राप्त कर उसकी इतनी अभिवृद्धि की थी। वह तो सौभाग्य है कि हमारे वर्तमान एवं भावी शासक एक महान् साम्राज्य प्राप्त किये हुए हैं।

"इतना सब व्यक्त कर जो मुझे मुख्य बात कहनी है वह यह कि इन समस्त राज्यों को आक्रान्त करना ही कोई विशेष बात नहीं है। वह तो बर्बरता है जैसा कि हमारे स्वर्गीय सम्राट् ने कभी नहीं किया। उन्होंने साम्राज्य में एकता स्थापित की। छोटे-छोटे राज्यों को एक सूत्र में बाँधा। इस प्रकार अपनी सम्पूर्ण सैनिक शक्ति को सम्राट् ने देश की एकता स्थापित करने के श्लाघनीय कार्य में लगाया। उनकी विजयों का नैतिक स्तर बहुत ऊंचा था। उन्होंने विजित देशों में प्रभुत्व स्थापित कर उनकी स्वतन्त्रता को यथावत् बनाये रक्खा। उनको केन्द्रित करने का कार्य उन्होंने अवश्य किया किन्तु उनसे मैत्री भाव स्थापित किया। सर्वत्र शान्ति व सदाशयता का वातावरण प्रकट किया। वैसा ही हमारे वर्तमान सम्राट् ने किया है। वैसा ही हमें युवराज कुमारगुप्त से अपेक्षित है।

"अब आप देखें—इन अवन्ति के क्षत्रपों का अन्त कर हमारे समक्ष प्रतिष्ठापित महाराज ने एक अद्वितीय कार्य किया है। मालवा, गुजरात तथा सौराष्ट्र विजित कर साम्राज्य-विस्तार ही नहीं अपितु आन्तरिक व्यापार की वृद्धि भी हुई है—होगी।"

सभामण्डप करतल-ध्वनियों की गड़गड़ाहट से गूँज गया।

"आज अधिक विलम्ब हो गया है। विजय-समारोह तीन दिवस तक चलेगा। आप उपस्थित जन कल मध्याह्न में पुनः उपस्थित हों," कहते हुए गण-संवाहक ने वह सभा विसर्जित की।

६

विजय पर्व का आज दूसरा दिवस था। युवराज कुमारगुप्त मौक्तिक मालायें धारण किये, कानों में हीरकफूल पहने, नीलम-पन्ना-पुखराज के भुजबन्ध बाँधे, श्वेत-निम्न-दुकूल पर कूर्मासक पहने तथा रेशम का धवल उत्तरीय फरफराता सोन-तट-अवस्थित युवराज-प्रासाद की सर्वोच्च अट्टालिका में प्रातःकालीन मन्द समीर का आनन्द ले रहा था। विगत दिवस से ही सम्पूर्ण राजधानी में कोलाहल मचा हुआ था। स्थान-स्थान पर दुन्दुभि-स्वर गुंजरित हो रहे थे। प्रतीत होता था मगध की वह विजय प्रत्येक नागरिक का वैयक्तिक विजयोन्माद है। ज्ञात हो रहा था शकों से प्रतिकार लेकर मागध-सैनिकों ने साम्राज्य की ऐतिहासिक कालिमा को रक्त से धो डाला है।

श्वेत मर्मर पर मन्द पग-चापों सहित युवराज कुमारगुप्त इधर-उधर टहल रहा था और कल्पना-लोक में किसी के भाव-चित्रों को उतार रहा था। वह ध्यान कर रहा था—आज के इन विजय-पर्वों को कोई और भी देखता होता। वह—वह होता जो सबसे पृथक्, पलक मूँद कर मन-ही-मन अर्पित होता रहता। एकान्त में मनुहार जाता। आत्म-विभोर हो समर्पण की अमित क्रीड़ायें करता जाता। वह—वह होता जो निःशब्द प्रशंसा में, अनुराग की अवचेतना में विलीन होता जाता। वह—वह

होता जो मुझे प्रभात में इतने शीघ्र जागने न देता। मुझे यों एकान्तिक भ्रमण से रोकता—अपने में समेट लेता।

युवराज कुमारगुप्त में जो यौवन की तेजस्विता तीव्रतर हो रही थी, जो कुमार-हृदय कुलबुला रहा था, जो जुगुप्सा हुंकार रही थी उस आधार पर—उस क्षण ललितांगी की स्मृति वैदग्ध का कारण बनती जा रही थी। ललितांगी के सामीप्य की आकांक्षा दुःसह होती चली जा रही थी।

इसी प्रकार के चित्त-चाञ्चल्य में युवराज सोन की तरंगित लहरों को देख कर घूमा ही था कि समक्ष ही उसका अनन्य सखा भद्रसेन दीख पड़ा। मित्र को देखकर युवराज भी मुस्करा दिया और भद्रसेन भी प्रसन्न-मुद्रा सहित बोल पड़ा—"प्रश्न यह नहीं है कि कितना विलम्ब है? स्थिति यह है कि सोचा जा रहा है होगा भी अथवा नहीं?"

"यह प्रातःकाल ही क्या ऊटपटांग प्रश्नोत्तर करना चाहते हो भद्रसेन? क्या होगा, अथवा नहीं?"

"एक महानुभाव का लग्न।"

"लग्न? किसका?"

"मगध के युवराज का।"

ज्यों धरती हिल गई। आकाश फट गया। राजमहालय भूमि में विलीन हो गया। समग्र सृष्टि अन्तर्धान हो गई। भद्रसेन कहीं हवा में उड़ गया। स्वयं कुमारगुप्त किसी इतर लोक में विलीन हो गया।

"कैसा अनर्गल प्रलाप कर रहे हो, भद्रसेन।" सरोष मुद्रा में युवराज कुमारगुप्त कह उठा।

"ऐसा ही सुना है।"

"कैसा?"

"ऐसा ही कि ललितांगी तुमसे विवाह करना अस्वीकार करती है।"

"इस प्रभातकाल में तुम्हारे पास इससे भयानक परिहास करने को और कुछ नहीं था, भद्रसेन ?"

"युवराज अधीर न हों। मैं सत्य प्रकट कर रहा हूँ।"

युवराज कुमारगुप्त की स्थिति इस समय अधिक संवेदनशील हो गई थी। वह त्रास में डूब गया। निर्वाक् युवराज को देख कर भद्रसेन ने पुनः प्रारम्भ किया—"मित्र, मैं यह गम्भीर सूचना लेकर ही तुम्हारे निकट आया हूँ। कल विजयोत्सव के उपरान्त महाराज, महाराज्ञी ध्रुवसेना एवं महाकवि कालिदास में दीर्घकाल तक गुप्त मंत्रणा होती रही। वहाँ मेरे चाचा वीरसेन भी उपस्थित थे। समस्या गम्भीर है। राजकुमारी ललितांगी अपने निर्णय पर दृढ़ होती जा रही है। वह प्रारम्भ से ही इस परिणय की विरोधिनी है, युवराज··· ।"

"क्या कह रहे हो मित्र ?"

"मैं सत्य कह रहा हूँ, बन्धु ! यदि सचमुच ही ललितांगी को प्राप्त करना है तो कुछ उपक्रम करना होगा। कुंतल तथा मगध के सम्बन्ध-स्थापना में राजनीतिक महत्व हो सकता है किन्तु कुंतल राजकुमारी ललितांगी में तथा मगध राजकुमार कुमारगुप्त के सम्बन्ध-स्थापना में क्या विशेष प्रेरणा उस स्वर्ग-सुन्दरी को प्राप्त हो रही है—प्रश्न यह भी तो है।"

"तुम मूर्ख हो भद्रसेन।"

"हो सकता है।"

"मगध का युवराज होना क्या कम महत्वपूर्ण है, मूर्ख !"

"और कहो सौराष्ट्र विजय। और कहो मगध में ये विजयोत्सव··· कहो, कहो," भद्रसेन अत्यधिक गम्भीर होकर कहता गया।

वार्तालाप के उद्वेग में दोनों ही मित्र खड़े के खड़े रह गये थे। भद्रसेन के कथन की कर्कशता में युवराज कुमारगुप्त अत्यधिक त्रस्त हो रहा था। तभी वह अनायास कह उठा—"मैं ललितांगी से भेंट करूँगा, भद्रसेन !"

"अवश्य करो मगध-युवराज ! तुम्हें विवाह के लिये और रूपसियाँ कहाँ मिलेंगी जो एक पर ही टूटे पड़ रहे हो ?"

"कहा न, कि तुम मूर्ख हो भद्रसेन !"

"और अपरिचित कुंतल-राजकुमारी से भेंट की बात सोचना बुद्धिमानी है, भद्र पुरुष !"

"वह मेरी वाग्दत्ता हो चुकी।"

"तभी तुम्हारे वहाँ पहुँचते ही तुम्हारा भली प्रकार स्वागत करेगी। बुद्धिमान जी !"

"मुझे उससे क्या लेना-देना। मेरा स्वागत तो कुंतल-नरेश काकुस्थ वर्मन करेगा।"

"सुन्दर विचार है। जिस हेतु जा रहे हैं—उससे क्या लेना-देना। उसके पिता को ब्याहने जा रहे हैं—ज्ञानी युवराज !"

"प्रलाप बन्द करो, भद्रसेन।"

"पूर्णतः बन्द ?" कहते हुए भद्रसेन ने मुस्कान सहित ओठों पर उंगली रख ली। युवराज, कुमारगुप्त यह हास अप्रिय लगा और मौन हो वह अट्टालिका को त्याग कर सीढ़ियों से नीचे उतर गया।

रोष की स्वीकारिता में भद्रसेन भी वहाँ से चला आया।

× × ×

कैसा दुष्ट है भद्रसेन। कैसा अशुभ है आज का दिवस—कि प्रभात में ही ऐसा त्रास-जन्य समाचार सुनने को मिला—युवराज कुमारगुप्त ध्यान करता चला जा रहा था। तनन्तर सम्पूर्ण दिवस विजयोत्सव के विभिन्न कार्यक्रम होते रहे। नागरिक उत्साह में नृत्य कार्यक्रम करते रहे। संगीत का आयोजन करते रहे। जलपान गोष्ठियाँ आयोजित की गयीं। युवराज की विजय से मागध स्त्रियाँ भी अत्यधिक प्रफुल्लित हो

रही थीं। वे नाना प्रकार के अलकंरण व आकर्षक वेश धारण कर गोचुरों, अलिन्दों एवं उच्च अट्टालिकाओं के गवाक्षों से राज मार्गों को निहारती रहीं। उत्साही नागरिकों को देख-देखकर प्रसन्न होती रहीं।

मध्याह्न में, कार्यक्रमानुसार पुनः राज्यसभा का आयोजन किया गया। विगत दिवस की ही भाँति आज भी वे सभी जन सभा मण्डप में अवतिष्ठित हुए। सभास्थल में अपेक्षाकृत आज अधिक चहल-पहल व भीड़ थी। आज कुछेक विजित देशों के भिन्न शासक भी पाटलिपुत्र पधार रहे थे व विजयोत्सव में भाग ले रहे थे। इस अवसर पर अनेक राजा भेंट-उपहार लेकर पधारे थे। वे सब अपनी-अपनी मर्यादा के अनुकूल राज्य सभा में स्थान प्राप्त करते हुए विराज रहे थे।

राज-प्रसाद के बाहर मैदान में नट अपने हस्तलाघव के अनेक प्रदर्शन कर रहे थे और मागध-नागरिकों को आकर्षित किये हुए थे।

दूसरी ओर सैनिक स्कन्धावारों में जो सैनिक राज्य-सभा में सम्मिलित होने का विचार नहीं कर रहे थे वे आमोद-प्रमोद में संलग्न थे। एक-दो स्थानों में मल्ल-युद्ध के आयोजन किये गये थे। अधिकांशतः द्यूत-क्रीड़ा-रत थे।

अपराह्न होते-होते अनेक जयकारों के मध्य मगधपति सम्राट् चन्द्रगुप्त संथागार में पधारे। सभी ने अपने-अपने स्थानों से खड़े होकर सम्राट् का स्वागत किया। सम्राट् का व्यक्तित्व भी बहुत ओजपूर्ण व सुन्दर था। उनके कंठ में झलकती हीरक-मौक्तिक मेखलायें अत्यधिक सुन्दर प्रतीत होती थीं। सम्राट् के राजमुकुट में विजड़ित नीलम, पन्ना, मानक, हीरक, मुक्ता की चमक दूर तक फैलती थी। सम्राट् के मयूर-सिंहासन पर स्थान-स्थान पर रत्न जड़े हुए थे। एक प्रकार से सम्पूर्ण सिंहासन पन्ना रत्नों द्वारा निर्मित किया गया था। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने आकर सिंहासन ग्रहण किया और तब सभी उपस्थित जन यथा-स्थानों पर बैठ गये।

महाकवि कालिदास ने स्वस्तिवाचन किया जिससे राजसभा मन्त्र-मुग्ध की भाँति विराजी रही। महाराज के दक्षिण पार्श्व में युवराज कुमारगुप्त उदास मुद्रा में बैठा हुआ था। आज उसका मन नहीं लग रहा था। वे सब उत्सव ज्यों फीके दिखाई दे रहे थे। सम्राट् से युवराज की उदासी छिपी न रही किन्तु वे तटस्थ हो राज-सभा के कार्यक्रम में संलग्न हो गये।

विगत दिवस की ही भाँति मुख्य-मन्त्रिन ने खड़े होकर प्रारम्भ किया, "मैं महाकवि कालिदास से अनुरोध करूँगा कि वे सभा का कार्य आरम्भ करें। आज अनेक मित्र प्रदेशों के शासक यहाँ विराजमान हैं और महाकवि की अमृत वाणी का रसास्वादन करना चाहते हैं।"

महाकवि ने सम्राट् की ओर दृष्टिपात किया। सम्राट् मुस्करा रहे थे। तभी महाकवि ने अपने स्थान पर खड़े होकर प्रारम्भ किया—

"परम विक्रमाङ्क, अजित-विक्रम, सिंह-विक्रम, साहित्य, संस्कृति कला के महान् पोषक, हमारे सदृश अकिञ्चन साहित्यकारों के ही नहीं अनेकानेक विद्वानों के आश्रयदाता, संस्कृत के पंडित, महान् पराक्रमी, निर्भीक, नीति-कुशल, धर्मानुरागी, भारत के दिग्विजयी सम्राट् चन्द्र-गुप्त को मैं मस्तक नवाता हूँ," कहते हुए महाकवि ने अपनी श्रद्धा प्रकट की।

"परम देदीप्यमान संस्कृत के मर्मज्ञ, वीर युवराज कुमारगुप्त, श्रेष्ठि जन व मागध नागरिकों!

"इस विजयपर्व के प्रारम्भ में मैंने कल आपका बहुत समय लिया है और पर्याप्त कह भी डाला है। अनेक राज्यों के स्वनामधन्य राजाओं एवं सामन्तों का स्वागत करते हुए अपने भ्राता लब्ध-प्रतिष्ठ नाट्यकार

एवं संस्कृत के उद्भट विद्वान् विशाखदत्त से मैं अनुरोध करता हूँ कि आज वे आपके समक्ष पीयूष-वर्षा करें।"

"अवश्य·····अवश्य·····!" सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपनी ग्रीवा डुलाते हुए प्रकट किया।

कुछ दूर बैठे विशाखदत्त मुस्करा दिये और जैसे बड़ी कठिनाई पूर्वक अपने आसन से उठ खड़े हुए।

"अजित-विक्रम ! मगधाधिपति, दिग्विजयी सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की जय। यशस्वी युवराज कुमारगुप्त की जय।

"उपस्थित भद्र-जन !

"आज कितनी प्रसन्नता का अवसर है कि गुप्त-वंशीय-कुल-कमल युवराज कुमारगुप्त सौराष्ट्र-विजय कर हमारे मध्य विराजमान हैं।

"उस दिन उन्होंने महाराज से कहा—'पिता जी ! सौराष्ट्र-विजय के हेतु मैं जाऊँगा।' महाराज ने तत्काल उसकी अनुमति दे दी। वह तो हुआ किन्तु मैं चकित रह गया। अभी इस अल्पायु में युवराज को भीषण संग्राम के हेतु उन्मुख देख कर मैंने ध्यान किया। यह वही रक्त है। ये वे ही, स्वर्गीय सम्राट् समुद्रगुप्त की रक्त रेखायें हैं जो सदैव दिग्विजय का ही महान् आह्वान करती रहीं। यह महाराज चन्द्रगुप्त का ही तो महान् प्रताप है कि युवराज में अटूट उत्साह ही नहीं महान् पराक्रम तथा बल विद्यमान है।

'आज गुप्त-सम्राटों की जितनी प्रशंसा की जावे कम है। धर्म, संस्कृति राजनीति, साहित्य, कला, स्थापत्यकला, मूर्तिकला, वास्तुकला की जिस प्रकार उन्नति हुई है, जन-जन में जो नैतिक प्रभावना जागरूक है, सम्राट् ने साम्राज्य का जैसा संगठन, जैसा सुशासन आयोजित किया है, शासन की जैसी नवीन योजनायें बनायी हैं उससे हम आप सब देख

रहे हैं। सर्वत्र, धन. वैभव, सम्पन्नता, विद्वत्ता, शान्ति, सौरभ छाया हुआ है। जन-जन आनन्दित है।

"सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के नीतिज्ञ चाणक्य, सम्राट् समुद्रगुप्त के कीर्तिमान कवि हरीशेण की ही भाँति आज आपके समक्ष महाकवि कालिदास सदृश विभूति विद्यमान है। वह देखिये·····शल्य-शास्त्री धन्वन्तरि की जागृत-मूर्ति, राजनीति-पटु, सन्धि-विग्रहीक, मुख्य-मन्त्रिन वीरसेन के विराट् दर्शन कीजिए। और उन्हें देखिये वे हैं अमरसिंह जी·····सोचिये तो, कोष ही रच डाला। तो हम कितने सौभाग्यशाली हैं कि हमारा जन्म ऐसे युग में हुआ है कि हमें ऐसी विभूतियों के दर्शन का सौभाग्य मिलता रहता है।

"हमारे व्याघ्रपद स्वर्गीय सम्राट् समुद्रगुप्त के सम्बन्ध में कल ही महाकवि ने प्रकट किया था कि किस प्रकार उन्होंने दिग्विजय की। उन्होंने यह भी व्यक्त किया था कि उनकी दिग्विजय में केवल महत्वाकांक्षायें ही निहित नही थी। उनके उद्देश्य थे—शान्ति स्थापना, सत्शासन, एकता, संगठन। वैसा उन्होंने किया। उसी की चूड़न्त अभिवृद्धि हमारे वर्तमान सम्राट् चन्द्रगुप्त ने भी की। हमारे सम्राट् का साम्राज्य-निर्माण-सम्बन्धी जो कार्य चल रहा है वह स्तुत्य है। आज देश-देशान्तरों के शासक यहाँ विराजमान है। वे बतावें की उनकी स्वतन्त्रता का कहाँ अपहरण किया गया है? उन्हें कहाँ क्षोभ है? आज यदि वे एक केन्द्र में विराजमान हैं तो कम से कम निश्चिन्त तो हैं·····।"

"महाराज चन्द्रगुप्त की जय—सम्राट् की जय।"

किन्तु युवराज को कुछ भी भला नहीं लग रहा था। वह ललितांगी में लीन था। वह कुंतल-यात्रा की विविध योजनायें बना रहा था। उसे आज सौराष्ट्र विजय का लेशमात्र भी आनन्द न था, आज वह परोक्ष में ललितांगी को विजय करना चाहता था। आज वह प्रकट में····· ललितांगी को विजित करने को आतुर था।

विशाखदत्त ने पुनः आरम्भ किया—"हमारे स्वर्गीय सम्राट् की भाँति महाराज ने भी किसी राजा को पद-च्युत नहीं किया वरन् उसकी धन-सम्पत्ति उसका राज्य यथावत् उसे लौटा दिया। आज आप सभी शासक इसी से मगध के परम भक्त बने हुए हैं। आज विग्रह नहीं, सर्वत्र एकता स्थापित हो रही है।

"मैं सदा ही कामना करता हूँ कि हमारा गुप्त साम्राज्य दिन-प्रति-दिन वृद्धि करे।"

विशाखदत्त के अनन्तर महा सन्धि विग्रहीक वीरसेन ने अपनी संक्षिप्त वक्तृता प्रारम्भ की और बताया कि अनेक देशज राजाओं की ही भाँति कुंतल से भी एक राज-प्रतिनिधि भेंट तथा उपहार लेकर आया है तथा कुंतलाधिपति ने यह भी कहलाया है कि युवराज के सौराष्ट्र-विजय के सुअवसर पर वे हर्ष-सहित स्वयं आते किन्तु अपनी राजपुत्री का लग्न युवराज से निश्चित कर देने के कारण वे इस स्थिति में नहीं हैं कि पाटलिपुत्र पधारें।

युवराज कुमारगुप्त अनायास चौंका।

अन्य उपस्थित जन हर्ष-ध्वनियाँ प्रकट कर उठे।

"शान्त होइये·····शान्त होइये," मन्त्री वीरसेन ने पुनः प्रारम्भ किया—"आप महानुभावों को एक अन्य शुभ सूचना भी देनी है।"

वीरसेन की इस घोषणा पर सर्वत्र शान्ति स्थापित हो गयी।

"मगधवासियों! कुंतलाधिपति महाराज काकुस्थ वर्मन के अनुग्रह पर महाकवि कालिदास को हमारे सम्राट् ने कुंतल में राज-प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किया है·····।"

"महाकवि कालिदास की जय—मगधाधिपति सम्राट् चन्द्रगुप्त की जय।"

"महामन्त्री ! वह कुंतल से आया हुआ राज-प्रतिनिधि कौन है ? कहाँ है ?"

"वाह युवराज ! अभी से इतने अधीर । वह तो रात्रि में ही प्रस्थान कर गया ।"

× × ×

"महाकवि ! तो आप कुंतल पधार रहे हैं ?"

"हाँ युवराज ? चिन्ता मत करो तुम्हारा ध्यान रक्खूंगा ।"

"महाकवि.....सुना है.....।"

"मैंने भी सुना है किन्तु अधीर मत होओ सब शुभ होगा ।"

१०

"सुमाली ! आचार्य का कुछ पता चला ?"

"नहीं राजकुमारी ! आज वे शिव-वन्दना के हेतु शिवालय भी नहीं गये ···।"

"तब वन्दना ?"

"सौदामिनी ने की ।"

"सौदामिनी···?"

"आचार्य के आश्रम की एक शिष्या···?"

"आचार्य आश्रम में भी···?"

"नहीं हैं ।"

"आचार्य कहीं नहीं हैं···"बुदबुदाते हुए ललितांगी ने स्वर्ण-पर्यङ्क के मूल्यवान बिछावन पर जैसे अपने को पटक दिया ।

"कुछ और भी ध्यान है," सुमाली ने हास झलकाते हुए कहा ।

"·····"

"क्या हो गया है, तुम्हें ?"

"आचार्य को···।"

"पल-पल में आचार्य की माला का जाप । भाड़ में गये आचार्य ·····।"

"सुमाली हट जा मेरे सामने से ! निकल जा यहां से ···।"

"नहीं जाऊँगी। नहीं जाऊँगी···।

झपट कर ललितांगी पर्यङ्क से उठी और कक्ष के द्वार पर आकर उसने दस्तक दी। तत्काल ही दो रक्षक-सेविकायें नग्न-खड्ग हिलाती सामने आ गयीं।

"इसे यहाँ से हटा ले जाओ···।"

"ठहरो! कौन है? क्या बात है? ललितांगी तुम्हारे कक्ष में कौन आ गया?" कहते-कहते सम्राज्ञी अनन्त सेना ललितांगी के शयन-कक्ष की ओर बढ़ आयी। ललितांगी भी आवेश में माता के साथ ही पुनः अन्दर आई और अनायास उनसे लिपट गयी। उसने उनके आँचल में सर छिपा लिया और सिसकियाँ भरने लगी।

"क्या है री सुमाली!"

"कुछ तो नहीं महाराज्ञी!"

"तब यह किसे हटा रही थी?"

"मुझे।"

"क्यों?"

"इन्हीं से पूछिये।"

"ललिते! क्या बात है?" कहते हुए माँ ने स्नेहपूर्वक ललितांगी के सर पर हाथ हाथ फेरा।

ललितांगी माँ से और अधिक चिपट गयी।

"क्या क्लेश है ललिते! तुझे तो मैंने इतना अधीर कभी नहीं देखा। हुआ क्या?"

अश्रुविगलित नेत्रों को पोछते हुए ललितांगी ने प्रारम्भ किया—"माँ! सुमाली को तत्काल मेरे सामने से हटा दो।"

"सुमाली हट जा सामने से," मुस्कराते हुए सम्राज्ञी अनन्तसेना ने आदेश दिया। "किन्तु हुआ क्या?" संकेत से सुमाली को रोकते हुए वे बोलीं।

"सुनिये, महाराज्ञी !आजकल यह बात-बात में बिगड़ जाती है।··· कल से ही यह संगीताचार्य के लिए अधीर हो रही है। वह धूर्त···न जाने कहाँ विलीन हो गया है ···।"

"सुमाली ! अपशब्दों का प्रयोग किया तो अच्छा न होगा···," ललितांगी ने अत्यधिक आवेश में कहा।

"करूँगी, करूँगी। मैं उसे धूर्त कहूंगी। सम्राज्ञी मेरा अपराध क्षमा हो—राजकुमारी की स्थिति ठीक नहीं है। आप संभालें इन्हें। यों मैं आपकी दासी हूं—एक सेविका इस पर भी राजकुमारी से सखि व्यवहार होने के नाते मैं इसके हृदय को परख रही हूँ," सुमाली ने भी उसी तत्परता में कह डाला।

ललितांगी निर्वाक् खड़ी रह गयी। सम्राज्ञी अनन्तसेना ने पुनः प्रारम्भ किया—"ललिते ! यह सब क्या है ?"

"तब मुझसे क्यों पूछती हैं मां ! इसी से पूछिये।"

"क्या बात है सुमाली ?"

"केवल एक समय संगीत-शिक्षक के न आने पर इतनी अधीरता क्यों है ? यह आप इनसे पूछिये, मां ?" सुमाली ने निर्भीकता पूर्वक कह डाला। उसे यह भय कदापि न हो पाया कि राजकुमारी के समक्ष अप्रिय व्यवहार कर वह कहीं की न रहेगी। वह ध्यान कर रही थी—मैं अपने कर्तव्य का निर्वाह कर रही हूँ।

"माँ—पहले इसे यहाँ से पृथक् कर दीजिये तब मैं कारण प्रकट करती हूँ," ललितांगी ने ऊपर से शान्त किन्तु सरोष-भावना सहित व्यक्त किया।

"सुमाली ! जा यहां से," महाराज्ञी, अनन्तसेना ने आदेश दिया।

अविकल सुमाली ने ललितांगी का शयन-कक्ष छोड़ दिया।

"पुत्री ! यह अधीरता कैसी है ?" महाराज्ञी ने पर्यङ्क के समक्ष पड़ी स्वर्ण-पीठिका पर बैठते हुए प्रश्न किया।

"माँ ! आचार्य कल महाराज के समक्ष अनायास ही पीठिका पर से उठते-उठते गिर पड़े। उस पर पिता जी ने उन्हें अपने समक्ष उपस्थित होने का निर्देश किया था। पिता जी के समक्ष उपस्थित होने का प्रतिफल आप सहज ही ध्यान कर सकती हैं ? मुझे लग रहा है निर्दोष आचार्य को कहीं कोई दण्ड न मिल जावे ? किन्तु···सर्वाधिक चिन्ता इस बात की है कि तभी से आचार्य का कहीं पता नहीं है···।"

"दोष हो या न हो—केवल दण्ड पाने का भय हो जाना तो एक बड़ा अपराध है। आचार्य के सम्बन्ध में धारणायें अच्छी नहीं हैं···," महाराज्ञी अनन्तसेना ने किंचित तीव्र होकर व्यक्त किया।

"किन्तु माँ···।"

"शान्त होओ। तुम्हें अब अधिक सुस्थिर होकर रहना होगा। राज-प्रतिनिधि के रूप में मगध से महाकवि कालिदास शीघ्र ही कुंतल पधार रहे हैं।·····देखो तो, तुम कितनी सौभाग्य-शालिनी हो। महाराज कहते थे ललितांगी के लग्न की तथा सौराष्ट्र-सेना के युद्ध से पलायन की सूचना मगध युवराज कुमारगुप्त को एक साथ प्राप्त हुई थी। जिसे सभी मंगल-सूचक मानते हैं।"

"माँ, एक वचन दोगी।"

"क्या ?"

"वचन दो।"

"कहो तो।"

"मां, आचार्य को कोई दण्ड न मिले इसकी व्यवस्था तुम पिता जी से कहोगी, न।"

"हः, आचार्य अब कभी सम्मुख ही न आवेगा। तब दण्ड का प्रश्न ही क्या हो सकता है ?"

"क्यों माँ ? आचार्य अब कभी सम्मुख क्यों नहीं आवेंगे ? उनका अपराध ही क्या है ? स्वर्ण-पीठिका से उठते-उठते लुढ़क जाना कोई इतना बड़ा अपराध है कि···।"

"तू अभी भोली बालिका है ललिते ! तू नहीं जानती कि अपराध से अधिक अपराध की भावना पर ध्यान दिया जाता है। आचार्य की उन्मादियों की सी चेष्टायें अक्षम्य हैं–विशेषतः अपनी शिष्या के सम्मुख। राजकुमारी के समक्ष। महाराज के समक्ष। मैं कुछ नहीं कर सकती। यदि वह आया भी तो महाराज उसे निश्चित रूप से दण्ड देंगे।"

ललितांगी की आकृति की लालिमा में जैसे अधिक श्वेत धारियां प्रकट हो गयीं।

"महाराज ने तेरे लिए दूसरा संगीत-शिक्षक नियुक्त कर दिया है जो आयु व योग्यता दोनों में प्रौढ़ है···," कहते हुए सम्राज्ञी अनन्तसेना ने पुत्री का मस्तक चूमा और वहाँ से चली गयी।

तो आचार्य !·····ललितांगी उनके विषय में निरन्तर ध्यान करती रही।

११

"हाँ इरा ! तब ?"

"उस धूर्त आचार्य से प्रणय—अनुराग चलते-चलते···।"

"इस ! आचार्य को धूर्त मत कह। वह कितना प्रियदर्शी है—कैसा सुघर।"

"राजकुमारी ! तुम भी ?·····तुम इस चक्र में मत घिरना। तुम तो अपने ही लक्ष्य पर दृढ़ रहो," इरा दासी कहती गयी।

"तू ठीक कहती है। मेरा तिरस्कार करके पिता जी ने मगध युवराज से लग्न निश्चित किया है और स्वरूप के अन्धकार में वह उसका भी तिरस्कार कर रही है, निर्लज्ज कहीं की।···इरा ! सुनती है—मुझे कुमारगुप्त चाहिए—कुमारगुप्त।"

"कुमारगुप्त प्राप्त होगा, राजकुमारी सुदक्षिणा !"

"·····।"

"इरा ! बाहर आ···।"

स्वर के साथ ही इरा काँप गई और उस विश्राम-कक्ष को त्याग कर द्वार के बाहर आ गयी।

"अभी, निकल जा यहाँ से। अब राज-प्रासाद से सौ-सौ योजन न दिखाई देना, नीच कहीं की।"

"महाराज्ञी !"

"दूर हो जा मेरे सामने से। मैंने सब सुन लिया है। राजकुल में विग्रह उत्पन्न कराना चाहती है। पापिनी···," तीव्रतर स्वर में महाराज्ञी अनन्तसेना ने व्यक्त किया।

विद्युत की कौंध सी तड़पती राजकुमारी सुदक्षिणा अपने पर्यङ्क से उठकर बाहर आगयी। स्थिति समझ कर वह भी उग्र हो उठी।

"तुम्हें कोई अधिकार नहीं है कि तुम मेरी दासी को निकालने का साहस करो···।"

"सुदक्षिणा !"

"इरा ! अन्दर चलो ! इस अनर्गल-प्रलाप की मुझे किंचित मात्र भी चिन्ता नहीं है। तू क्यों डरती है, मैं अभी माँ से कहती हूँ," कहते—कहते राजकुमारी सुदक्षिणा ने एक तीव्र दृष्टिपात विमाता महाराज्ञी अनन्तसेना पर किया और झपट कर प्रासाद के दूसरे प्रांगण की ओर बढ़ गयी।

अपमान की भयंकर प्रतिक्रिया लिये, मौन सम्राज्ञी अनन्तसेना अपने प्रासाद की ओर चली गयी।

× × ×

कुंतल के भव्य-राजमहालय में श्वेत प्रस्तर के पृथक्-पृथक् सप्त-प्रासाद बने हुए थे। इनमें दो राज-प्रासाद दो महाराज्ञियों—अनन्तसेना एवं सौमित्रा के एवं दो राजकुमारी ललितांगी तथा राजकुमारी सुदक्षिणा के थे। एक में महाराज काकुस्थवर्मन स्वयं निवास करते थे तथा किनारे के दो प्रासाद राज-कार्यों में प्रयुक्त होते थे।

दोनों महाराज्ञियों में अनन्तसेना से सौमित्रा अधिक रूपवती थी किन्तु कुंतल नरेश का अधिक स्नेह महाराज्ञी अनन्त सेना पर था।

इसी प्रकार राजकुमारी ललितांगी राजकुमारी सुदक्षिणा से शत-सहस्र गुणित अधिक लावण्यमयी तथा प्रखर यौवन सम्पन्ना थी।

अस्तु, राजकुल में सभी कारण विग्रह, ईर्षा व विवाद के थे। एक ओर यदि दोनों महाराज्ञियों में द्वेष-भावना प्रज्वलित थी तो दूसरी ओर दोनों राजकुमारियां एक-दूसरे से जूझ जाने को तत्पर रहती थीं।

इससे अधिक विशेषता यह थी कि राजकुमारी ललितांगी तथा राजकुमारी सुदक्षिणा का जन्म एक ही दिन हुआ था किन्तु वे आयु की समानता में रूप की असमानता सहित ईर्षा में बढ़ती पनपती रहीं।

इधर एक और घटना भी घटित होगयी। प्रसंग उपस्थित हुआ मगध से वैवाहिक सम्बन्ध के रूप में राजनीतिक महत्व-स्थापना का। पृथक-पृथक दोनों ही महाराज्ञियों ने कुन्तलेश काकुस्थ वर्मन से अपनी-अपनी पुत्रियों के प्रस्ताव भेजने का प्रस्ताव किया।

इसमें महाराज काकुस्थवर्मन का दोष था अथवा कोई विशेष ध्यान, उन्होंने राजकुमारी ललितांगी का ही प्रस्ताव उपस्थित कर दिया। संयोग ऐसा हुआ कि मगध से जो संधि-विग्रहीक वीरसेन कुंतल आये थे उन्होंने भी राजकुमारी ललितांगी की ही सराहना की।

तभी से कुंतल-राजकुल में विग्रह-अपनी चरम-गति पर था।

अस्तु, राजकुमारी ललितांगी के निकट से आते हुए सम्राज्ञी अनन्त-सेना को राजकुमारी सुदक्षिणा के प्रासाद से होकर जाना पड़ा। यों वे दूसरी ओर से भी जा सकतीं थीं किन्तु उन्हें ऐसा कुछ ध्यान तो था नहीं कि कहीं कोई भविष्यत् घटना भी प्रतिक्षण मनुष्य की प्रतीक्षा किया करती हैं।

× × ×

"पिताजी आपको क्या पता ? यह इरा बक रही थी कि धूर्त्ता सुमाली कल पंथागार गयी थी। वहाँ छद्मवेश में आचार्य प्रवास कर रहा है," राजकुमारी सुदक्षिणा ने धीमे से कह दिया।

अविश्वास और भ्रान्तियों के मूल में जो कारण व वातावरण बनते हैं वे हित-अहित का ध्यान छोड़कर मनोविकारों को जन्म देते हैं।

अकारण ही महाराज काकुस्थवर्मन तीव्र हो उठे और तत्काल अपने प्रासाद में आकर उन्होंने दो सैन्याधिकारियो को पंथागार की एक-एक ईंट खोजने का निर्देश दिया ।

× × ×

स्वपुत्री को भावी मगधपति से अच्छा वर क्या प्राप्त हो सकेगा—यह ध्यान सम्राज्ञी सौमित्रा को भी कग न था । इस आक्रोश की प्रतिक्रिया में कि सुदक्षिणा के स्थान पर ललितांगी उस सौभाग्य को प्राप्त कर लेगी—सम्राज्ञी सौमित्रा की सहज ईर्षालु प्रवृत्ति तीव्रतर हो उठी ।

"तुम्हें क्या पता ? ये राज-प्रासादों के रीति-व्यवहार हैं । वह गवइया आचार्य धनञ्जय प्रतिदिन उस ललितांगी का अधर-पान करता है..." सम्राज्ञी सौमित्रा ने अपनी अनन्य सखि नगर श्रेष्ठी की पत्नी से सहज ही व्यक्त किया ऐसे जैसे प्रत्यक्ष दर्शिणी हो ।

"ऐसा...?"

"इरा ने तो देखा ही है। तुम्हें भी दिखा दूंगी," सौमित्रा के स्वर दृढ़तर थे ।

× × ×

"मैंने पहले ही कहा था कि इरा विष-वमन करेगी किन्तु न जाने राजकुमारी इतनी तीक्ष्ण क्यों होती जा रही हैं," सुमाली ने महाराज्ञी अनन्तसेना से कहा ।

इन दिनों सुमाली का स्नानान्तरण हो गया था । उसे राजकुमारी ललितांगी के प्रासाद में आने की आज्ञा न थी, अतः वह महाराज्ञी का सेवा-भार लिये हुये थी ।

"किन्तु सुमाली क्या तू बता सकती है कि आचार्य इसी नगर में हैं ?"

"यह सर्वथा असम्भव है महाराज्ञी ! महाराज के गुप्तचरों के क्रियाशील होने पर भी आचार्य नगर में बना रहे यह असम्भव बात है," सुमाली ने सुस्थिर होकर कहा ।

क्या परिहास है ! व्यर्थ ही, अकारण ही कैसा वातावरण बनता चला जा रहा है । यदि यही प्रचार बना रहा और मगध से राज-प्रतिनिधि आगये तो क्या होगा ? ध्यान करते हुए महाराज्ञी अनन्तसेना ने सुमाली को आदेश दिया कि वह महाराज को बुलाने की व्यवस्था करे ।

१२

एक दिवस, महाराज काकुस्थवर्मन आमोद-शाला में विराजमान थे। निकट ही रुद्रसेन एवं महाराज के अन्तरङ्ग परिचित राजधानी के कुछेक सामन्त तथा दो नगर श्रेष्ठि स्वर्णासनों पर बैठे हुए थे। महाराज काकुस्थ-वर्मन के सिंहासन के समक्ष एक भारी चौकी रक्खी हुई थी जिसके पाये स्वर्ण निर्मित थे। जिनमें स्थान-स्थान पर बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। चौकी के ऊपर चौपड़ बिछी हुई थी।

अभी-अभी सामन्त श्रीमित्र की किसी विनोद-वार्ता पर महाराज ने अट्टहास करते हुए, अपनी पीठ सिंहासन की पीठिका पर टिका ली थी तभी प्रतिहारी ने प्रवेश कर सूचना दी—"महाराज ! एक तरुण विदेशी प्रतीक्षालय में अवस्थित है। आप से भेंट करना चाहता है।"

"उसका परिचय ज्ञात किया ?" मन्त्री रुद्रसेन ने तत्काल प्रश्न किया।

रुद्रसेन के प्रश्न पर महाराज मौन-गम्भीर हो केवल प्रतिहारी को देखते ही रह गये।

"हाँ महामहिम ! वह कहता है कि साकेत से आ रहा हूँ।"

"मागध-नागरिक···," अनायास ही महाराज काकुस्थवर्मन के मुँह से प्रकट हुआ।

एक क्षण को सर्वत्र शान्ति विराज गई।

"उपस्थित करो···"कुंतलाधिपति ने आदेश दिया।

अल्प-समय में ही एक स्वस्थ, सुगौर तरुण कुंतल नरेश के समक्ष अभिवादन कर खड़ा हो गया। उन्नत ललाट एवं सुविशाल कन्धों को देख कर उसके व्यक्तित्व का सौन्दर्य स्पष्ट हो रहा था। उसकी उन्नत नासिका, विशाल नेत्र एवं दीर्घ बाहु देख कर प्रतीत होता था वह कोई विशिष्ट व्यक्ति, कोई राजपुरुष अथवा कोई कलाकार है। वह निम्न-दुकूल पर पीत उत्तरीय धारण किये हुए था। अन्य कोई वस्त्र न होने के कारण उसका गौर वर्ण एवं भुजाएँ नग्न प्रकट हो रही थीं।

तरुण-तपस्वियों की सी आभा देख कर कुंतल नरेश काकुस्थवर्मन ने प्रारम्भ किया—"तो साकेत से पधार रहे हैं तरुण तपस्वी ?"

सम्बोधन सुनकर तरुण मुस्कराया और अनायास ही उसके मुख से शब्द प्रकट हो गये—"हाँ, महाराज।"

"कुंतल पधारने का मन्तव्य ?"

"देशाटन।"

"किस विशेष कार्य में संलग्न हैं भद्र पुरुष ?"

"मगधपति महाराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य एवं महाकवि कालिदास के साम्राज्य में किसी भी तरुण के दो ही कार्य सम्भव है महाराज ?

उपस्थित-जन कौतुक पूर्ण दृष्टि से आगन्तुक तरुण को देख रहे थे। महाकवि कालिदास का सुनाम वार्तालाप में संलग्न होते ही ज्यों एक विशेष आकर्षण प्रकट हो गया !

"वे कौन से ?" कुंतलनरेश ने प्रश्न किया।

"योद्धा होना अथवा ललित-कलाओं का प्रेमी होना···"तरुण ने तत्परता पूर्वक उत्तर दिया।

"तब भद्रपुरुष कोई योद्धा तो प्रतीत नहीं हो रहे···?" कुंतलाधिपति ने मुस्कराते हुए व्यक्त किया।

"योद्धा और कलाविद् दोनों का सामञ्जस्य केवल महाकवि कालिदास में ही सम्भावित है देवाधिदेव !···मैं तो एक अकिञ्चन संगीतज्ञ हूँ महाराज !"

"संगीतज्ञ होना योद्धा होने से कम महत्वपूर्ण नहीं है युवक !"

"किन्तु दोनों में विपर्यय तो है ही महाराज !" युवक ने उत्तर दिया और उसने एक विहंगम दृष्टि में कुंतल नरेश की आमोद-शाला का निरीक्षण किया।

युवक की गतिविधि एवं वार्तालाप के स्वरूप की मोहकता को देखकर उपस्थित विशिष्ट जनों में एक स्वाभाविक आकर्षण प्रकट हो रहा था। स्वयं कुंतलाधिपति काकुस्थवर्मन विशेष प्रभावित हो रहे थे।

"तब संगीत की किस धारा की सम्पूर्णता में विज्ञ हैं युवक ?"

"लगभग प्रत्येक।"

"बहुत सुन्दर!···रुद्रसेन ! युवक के राज्यातिथ्य का तत्काल प्रबन्ध हो। हमें विशेष प्रसन्नता हो रही है कलाकार !···क्या मैं शुभनाम ज्ञात कर सकता हूँ ?" महाराज काकुस्थवर्मन ज्यों चौपड़ छोड़कर युवक में पूर्णतः केन्द्रित हो गये।

"मुझे धनञ्जय कहते हैं महाधिपति।"

"सुन्दर।···रुद्रसेन ! शीघ्र ही कलाकार धनञ्जय की संगीत-सभा का वृहत् आयोजन किया जावे।···महान् सांस्कृतिक नगरी साकेत के कलाकार धनञ्जय के कला-प्रदर्शन से कुंतल नागरिक प्रसन्न होंगे···," प्रभावना में महाराज काकुस्थवर्मन ने प्रकट किया।

× × ×

"चलो, साकेत से कोई यशस्वी कलाकार आया है। महाराज ने उसके संगीत प्रदर्शन का बृहत आयोजन किया है," नागरिकों में चर्चा थी।

और एक महती सभा राजमहालय के यज्ञ-स्थल में एकत्रित हो गयी। प्रत्येक विद्वद्जन एवं संगीतज्ञ भी उस सभा में सम्मिलित हुए।

भारतवर्ष उन दिनों साहित्य, संगीत, कला, संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान में विश्व विश्रुत था। वह, वह युग था जब सेवक भी संस्कृत भाषामें वार्तालाप करते थे। वह, वह युग था जब ललित-कलाओं की शिक्षा-दीक्षा के लिए राज्य-सम्मान प्राप्त शिक्षालयों का बाहुल्य था। वह इतिहास का स्वर्ण-युग था। वह वह युग था जब भारतवर्ष के नागरिकों में धनोपार्जन अथवा उदरपोषण से अधिक चिन्ता शिक्षा-दीक्षा, कला और विज्ञान की रहती थी।

व्यक्ति का मूल्यांकन धरण से नहीं विद्वत्ता से होता था। संगीतज्ञों साहित्यकारों, कलाकारों का सर्वत्र मान होता था। उन्होंने भारतीय संस्कृति व साहित्य के श्री-भाण्डार की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि की। एक स्थल पर नहीं—सर्वत्र ही यशस्वी कलाकारों का महत्वांकन होता रहता था।

अस्तु, सभा में कलाकार धनञ्जय ने सुमधुर स्वर-लहरियों, वाद्यों के विभिन्न प्रदर्शनों एवं संगीत-कला के सांस्कृतिक स्वरूप को अपनी वक्तृता द्वारा भी प्रकट किया। सराहना में सभी श्रोत-प्रोत हो गये। कुंतलाधिपति महाराज काकुस्थवर्मन स्वयं अत्यधिक प्रभावित हुए तथा उन्होंने राजसभा में कलाकार का सम्मान किया। उनको आचार्य पद विभूषित किया तथा बहुमूल्य रत्न अलंकरणों से अलंकृत किया।

तभी सभा की पूर्ण शान्ति में धनञ्जय ने प्रकट किया—"महाराज! मुझे यह रत्न-भाण्डार, ये उपकरण, यह पदवी-विभूषण नहीं चाहिए। मैं चाहता हूँ—मैंने अपने में जो कुछ संचित किया है उसे औरों को दूँ—वितरित करूं।"

इसका स्वाभाविक प्रभाव कुंतलेश पर पड़ा और उन्होंने घोषणा की, "शीघ्र ही कुंतल में संगीत-विद्यालय की स्थापना की जावेगी। कलाकार धनञ्जय उसमें आचार्य के पद को सुशोभित करेंगे। कुंतल के

नागरिकों ! आचार्य धनञ्जय के गुणों से लाभ उठाइये। यह हमारा परम सौभाग्य होगा कि हमारे युवक संगीत की शिक्षा ग्रहण करेंगे।"

"और युवतियेंभी ···"भीड़ में से किसी ने धीमे से उच्चरित कर दिया जो स्वर महाराज के कानों में भी प्रवेश पा गया।

"हाँ, हाँ युवतियें भी। बालक-बालिकायें भी, प्रौढ़-प्रौढ़ायें भी संगीत सीखें···,"महाराज ने प्रकट किया और उपस्थित समुदाय में सरल हास्य बिखर गया।

नगर के दक्षिण-पश्चिम कोण पर एक आम्र-कानन था। उसमें सर्वत्र ही ऊँचे-ऊँचे वृक्ष, बड़े प्राचीन लता-गुल्म, अनेक लघु-दीर्घ सरोवर विद्यमान थे। सरोवर भी चतुर्दिक-गहन वृक्षमालाओं से घिरे हुए थे। प्रतीत होता था सरोवर की रक्षा के हेतु ही वे वृक्ष-पंक्तियाँ लगाई गई हैं। कानन अत्यधिक प्राचीन एवं अधिक विस्तृत था अतः उसमें नाना प्रकार के पशु-पक्षियों के प्रवास भी बने हुए थे यों बाहर से कानन का स्वरूप एक वन का सा प्रतीत होता था किन्तु उसकी आन्तरिक रमणीकता बड़ी प्रिय थी। उसमें नाना प्रकार के सुगन्धित पुष्प-वृक्ष थे जिनकी सुगन्धि दूर-दूर तक प्रसारित होती थी। इसी स्थल पर वर्ष में एक बार वन-महोत्सव नामक एक बड़ा मेला होता था जिसमें कुंतल के नागरिक, पुरुष-स्त्रियाँ, बालक आनन्दोत्सव मनाते थे। उस अवसर पर महाराज मुक्त-भाव से सभी नागरिकों के मध्य घूमते-मिलते थे। बड़ा हर्ष, बड़ा आनन्द उमगा रहता था। उस दिन राज्य की रक्षा-पंक्तियाँ-टूट जाती थीं। सैनिक भी सादे वेश में क्रीड़ा-रत होते और यत्र-तत्र विचरण करते थे। सम्पूर्ण दिवस आमोद-प्रमोद होता था।

इसी स्थान को महाराज काकुस्थ वर्मन ने संगीत विद्यालय के लिए चुना। 'संगीत की एकान्त-साधना के हेतु उससे उपयुक्त स्थान कुंतल में दूसरा नहीं है'—उनका मत था।

अल्प काल में ही एक अति सुन्दर प्रस्तर-भवन विद्यालय के लिए इसी कानन के पार्श्व में निर्मित हो गया और तब आश्रम के रूप में यह कानन कुंतल का संगीत विद्यालय विख्यात हो गया। यहीं एक ओर आचार्य धनञ्जय का प्रवास था।

दिन-प्रतिदिन शिक्षार्थियों की संख्या बढ़ती गयी। कुछ विद्यार्थियों को आश्रम-प्रवासियों के रूप में स्थान प्राप्त हो गया और स्वर-साधना प्रारम्भ हो गई। आचार्य धनञ्जय को जैसी अमाप कला प्राप्त थी उसी के अनुसार ही उनका मृदु व्यवहार, सरल स्वभाव तथा सदा मुखरित आकृति देख कर प्रत्येक विनीत हो जाता था।

आचार्य की अवस्था तीस से अधिक न होगी। सम्भवतः एक दो वर्ष कम हो। इसके साथ ही उनका गौरांग तथा रूप-लालित्य अत्यधिक प्रभावशाली था।

× × ×

तभी एक दिवस महाराज ने आश्रम में पधार कर आचार्य से अनुरोध किया—"आचार्य श्री! आप मेरी पुत्रियों को संगीत-शिक्षा देकर उनमें ज्ञान की अभिवृद्धि करें।"

"जैसी आज्ञा महाराज!" कहकर आचार्य ने स्वीकृति प्रदान की।

तब राजकुमारी सुदक्षिणा की उदासीनता में तो आचार्य का परिश्रम निरर्थक हो गया किन्तु परम लावण्यमयी ललितांगी रूप और कला के साम्य की यथार्थता को सार्थक करते हुए संगीत-अध्ययन में दत्तचित्त हो गयी।

साथ ही उसके रूप का मोहन आचार्य के वश का न रह पाया। वह कला-साधक, वह मूक-आराधक, वह कला का, रूप का पारखी, मूक प्रणयी की भांति आत्म-विभोर, आत्म-लीन हो गया। उसने कहीं कुछ प्रकट नहीं किया। कोई प्रदर्शन नहीं, कोई जिज्ञासा नहीं। किन्तु वह शान्त-प्रणेता प्रथम दृष्टिपात में ही राजकुमारी के रूप पर आश्रित हो गया।

तदनन्तर क्षण-प्रति-क्षण राजकुमारी के मृदुल व्यवहार, वार्तालाप की गति-विधि, मान्यताओं-आस्थाओं की शालीनता में आचार्य खोता चला गया। अब उसे आचार्य की वह नवीन पदवी अखर रही थी। अब उसे राज-परिवार का भय था। उसे महाराज का भय था। वह अब उन्मुक्त बिहार करने को उन्मुख हो रहा था किन्तु जड़वत् स्थिर बना हुआ था। उसने कहीं कोई प्रमाद प्रकट नहीं किया। वह मूक-उपासक राजकुमारी की स्वर-साधना में सहयोग देकर, शान्त-भाव से बैठ कर अनिमेष कुंतल कुमारी के कुंतल रूप को निहारता रहता था।

अबोध ललितांगी यह जानती ही न थी कि वे कैसी अनुरागी दृष्टियाँ होती हैं। वे कैसे भ्रमित नयन होते हैं। उनमें कैसी मादकता होती है, उनमें कैसे आकर्षण होते हैं—जो नेत्रों को नेत्र खींच लेते हैं। वे एक-दूसरे को वश में कर लेते है। वे अवश हो जाते हैं।

अज्ञान ललितांगी का हृदय भी सरलता की प्रति-मूर्ति रूप में शान्त-सरल भाव से केवल इतना जानता था कि देवरूप आचार्य की प्रतिष्ठा सहित संगीत में लीन हो जावे। वह एकाग्र हो संगीत की पुजारिणी बनने की अभिलाषा कर रही थी। वह स्वयं कला की पावन प्रतिमा बन जाना चाहती थी।

वह प्रतिमा बनने का ध्यान ही कर पायी कि उसके पुजारी का संयोजन हो गया। प्रतिमा का पुजारी अर्चना को तत्पर हो गया।

संगीत-स्वराधना में प्रथम तो आचार्य ने अत्यधिक तत्परता प्रदर्शित की किन्तु ज्यों-ज्यों उनका हृदय अभाव का अनुभव करता गया, ज्यों-ज्यों उनमें आशायें पैठती गयीं, ज्यों-ज्यों मधुर स्वप्नालोक प्रवेश पाता गया, त्यों-त्यों आचार्य लीन होते चले गये। अब वे राजकुमारी के प्रासाद में प्रवेश पाते ही काँप जाते। अब शिक्षा के हेतु निश्चित उस एकान्त कक्ष की ओर पग बढ़ाते ही उनमें कंपन की अनुभूति होने लगती। तभी वे वहाँ पहुँचते तो उस अप्सरि-रूप को पूर्व से ही वीणा के नियोजन

में व्यस्त पाते और तब जैसे धम्म से उस पूर्ण निर्धारित स्वर्ण-पीठिका पर वे जा विराजते। प्रतीत होता जैसे सर्वत्र शून्य है। जैसे आचार्य में कोई गति नहीं। जैसे उनका रक्तचाप विलीन हो रहा है। जैसे वे उन्माद में भर रहे हैं। और वे कुछ क्षण राजकुमारी को तब जी भर अनिमेष देखते। किन्तु राजकुमारी का बाल-हृदय आचार्य को विनय सहित प्रणाम करता रहता।

तब राजकुमारी ललितांगी स्वर खींचती रहती और आचार्य पलक मूँदे—अन्तराल में उसकी प्रतिमूर्ति उतारा करते।

कक्ष के बाहर अनेक प्रहरी-रक्षिकायें वार्तालाप में निमग्न रहती थीं, ताम्बूल सेवन करती थीं एवं नाना प्रकार के तर्क-कुतर्क किया करती थीं। कभी वे झगड़ लेती थीं। आचार्य का उस सब ओर ध्यान नहीं था। राजकुमारी ललितांगी जब उनकी कलह के धीमे स्वर सुनती तो उसका ध्यान भंग होता। उस क्षण उसकी दृष्टि उठती तो मुँदी पलकों में वह आचार्य की सौम्य प्रतिमा निहार लेती और तब फिर वह वीणा में लीन हो जाती। स्वर-संधान के समय किसी शंका के उत्पन्न होने पर उसका मन करता कि वह आचार्य से कुछ प्रश्न करे किन्तु आचार्य को वैसे देख कर उसका साहस ही न होता था। कभी-कभी तो उसमें बड़ी व्यग्रता उत्पन्न होती किन्तु वह शान्त हो लेती थी।

इस प्रकार की विचित्र परिस्थितियों में उस दिवस महाराज के समक्ष उठते-उठते वे दीन आचार्य स्वर्ण-पीठिका पर ही लुढ़क पड़े और महाराज की तीव्र-भृकुटियों को देखकर जो उखड़े तो आश्रम ही नहीं गये। आश्रम ही क्या, कहीं नहीं गये।

कहाँ गये! किधर विलीन हो गये? किसी को कुछ पता नहीं चला।

१३

कुंतल के इतिहास में वह पहला अवसर ही था जब राज्य की पान्थशालाओं पर एक विपत्ति आयी थी। अनेक पान्थशालाओं की छानबीन की गयी।। यात्रियों से अनेकानेक प्रश्नोत्तर किये गये। इन्हीं में कुछ संदिग्ध व्यक्ति भी प्रकट हुये जिन्हें दण्डपाशीक के समक्ष उपस्थित किया गया। यात्रियों के आवागमन पर विशेष सतर्कता का व्यवहार किया जाने लगा। प्रत्येक पान्थशाला में विशेष अधिकारी नियुक्त किये गये। पान्थशालाओं की इस प्रकार की छानबीन पर नागरिक शंकालु हो उठे। नाना प्रकार की चर्चायें यत्र-तत्र प्रसारित होने लगीं।

कोई कहता—"कुंतल में तस्कर व्यापार प्रारम्भ हो गया है।"

किसी का कथन होता—"कुंतल में शत्रु-भय व्याप्त हो गया है। छद्म-वेश में कुंतल-शत्रु राजधानी में प्रवेश पा गया है। उसी की खोज की जा रही है।"

किसी का मत होता—"हमारा गुप्तचर विभाग व्यर्थ है। यदि किसी राज्य का गुप्तचर विभाग सतर्क व सचेष्ट हो तो कोई भी छद्म-वेशी बाहर से आ ही नहीं सकता।"

वस्तुस्थिति का किसी को ज्ञान नहीं था तभी किसी विशेष सूत्र से तत्परतापूर्वक ऐसा प्रचार प्रारम्भ किया गया जो इन सब कारणों व चर्चाओं से सर्वथा भिन्न था।

राज-प्रासाद से आने के अनन्तर आचार्य धनञ्जय अपने आश्रम नहीं गये। कहाँ गये, यह उस क्षण से किसी को ज्ञात नहीं हुआ। आश्रमवासियों में विभिन्न प्रकार से प्रतिक्रियायें प्रकट हो रही थीं।

आचार्य के विलीन होने के दूसरे दिन अपराह्न के कुछ पूर्व, कुंतलाधिपति काकुस्थवर्मन के दो संदेशवाहकों ने अपने-अपने अश्व आश्रम के प्रवेश-द्वार पर खड़े कर आश्रम में प्रवेश किया और संदेश दिया कि महाराज ने आचार्य का स्मरण किया है।

"आचार्य का विगत दिवस से कुछ पता नहीं है," एक आश्रम वासी ने उत्तर दिया।

संदेशवाहकों ने उसी प्रकार की सूचना महाराज को दे दी।

सम्पूर्ण-दिवस और प्रतीक्षा करके महाराज ने राजाज्ञा घोषित की—"रुद्रसेन! आश्रम में कहलवा दो कि आचार्य धनञ्जय को कुंतल से निष्कासन की आज्ञा दी जाती है।.....उसी प्रकार की व्यवस्था राज्य में सर्वत्र कर दी जाये।"

तब आश्रमवासियों ने सुना किन्हीं.....अज्ञात कारणों के आधार पर आचार्य को देश-निष्कासन की आज्ञा हुयी है।

क्यों? यह किसी को ज्ञात न था। आचार्य की सौम्यता एवं शालीनता के आधार पर किसी को यह अनुमान करने का साहस भी न हो रहा था कि वह सोचे कि राजकुमारी ललितांगी को संगीत शिक्षा देते समय आचार्य ने कोई उद्दण्ड व्यवहार किया होगा।

हाँ, इधर आश्रम में एक विशेष चर्चा अवश्य चल रही थी।

—आचार्य अनायास ही इतने गम्भीर क्यों रहने लगे हैं?

—प्रतीत होता है जैसे आचार्य ने मौन-व्रत धारण कर लिया है।

—केवल शारदा-वन्दना के समय ही आचार्य की संगीत-ध्वनियां प्रकट होती हैं।

—आचार्य तो अत्यधिक सरल, मधुभाषी व परिहास-प्रिय थे। हुआ क्या ?

—शिवालय में भी आचार्य शान्त बैठे रहते है। वहाँ शिव-वन्दना केवल आचार्य ही किया करते थे।

तभी कुछ आश्रम-प्रवासी कभी-कभी ध्यान किया करते थे—आचार्य राजकुमारी को संगीत-शिक्षा प्रदान कर रहे हैं।.....क्या वहीं से किसी विराग अथवा विषाद की व्युत्पति हुई है ?

और अब अनायास आचार्य के विलीन होने के अनन्तर महाराज की निष्कासन-आज्ञा से जहाँ एक ओर आश्रम में नाना प्रकार की शंकायें उत्पन्न हो रही थीं वही इस कारण की पुष्टि भी होना स्वाभाविक थी कि आचार्य की विलीनता का कारण राजकुमारी ललितांगी के संगीत-शिक्षण में उत्पन्न किसी विशेष स्थिति के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

आचार्य धनञ्जय का अनायास यों अज्ञात होना साथ ही आश्रम में प्रकट इस प्रकार की चर्चायें केवल आश्रम की हरीतिमा में ही सीमित रह जातीं—ऐसा असम्भव था। शनैः-शनैः नागरिकों में भी यह कौतूहल व्याप्त हो गया कि आचार्य के यों अनायास अज्ञात होने में कुछ विशेष कारण हैं जो सम्भवतः राज-प्रासाद से सम्बन्धित हैं।

और इसके साथ ही—

"अच्युत ! तो तुमने अपने निकटतम व्यक्तियों को निर्देश कर दिया।"

"हां, महाराज्ञी ! वह कार्य प्रारम्भ भी हो गया है।"

"तुम जानते हो तुमको मैं कितना स्नेह करती हूँ अच्युत ! तुम यह भी जानते हो कि तुम पर मैं अनेक आशायें केन्द्रित किये हूं," कुंतल सम्राज्ञी सौमित्रा ने एक अर्थसूचक दृष्टि सैन्याधिकारी एवं महाराज काकुस्थवर्मन के आन्तरिक अंगरक्षक अच्युत पर आरोपित कर दी।

"महाराज्ञी का मेरे प्रति इतना विश्वास ही मेरा बड़ा सौभाग्य है·····।"

"सुदक्षिणा से भेंट हुई। वह हिरणी किधर है ?"

कुंतल सम्राज्ञी सौमित्रा के उन शब्दों को सुनकर सैन्याधिकारी अच्युत पूर्णतः शान्त हो गया। ज्यों अनायास ही, उत्साह सहित लज्जा की लालिमा उसकी आकृति में व्याप्त हो गयी और तभी राजकुमारी सुदक्षिणा दृष्टिगत हुयी।

सुदक्षिणा फुदकती चली आ रही थी। समक्ष ही सैन्य वेश में उत्तुंग अच्युत को देखकर वह सहसा ठिठुक गयी। उसके नेत्र अच्युत के दुष्ट नेत्रों से जा टकराये। अच्युत ने एक कटाक्ष किया जिसे नव-यौवना षोडसी राजकुमारी सुदक्षिणा ने अपनी तत्सम्बन्धी अबोधता में ही एक आनन्द माना और वह मुस्करा दी। वह ध्यान करती थी कि अनुराग के चञ्चल व्यवहारों में अच्युत की कभी-कभी की वैसी उद्दण्ड प्रक्रियायें भी स्नेहान्तर्गत ही हैं। वह समझती थी कि वह सब सरल-सुलभ है। उसका भी एक कारण था—उसने वैसे कलुषमय दृष्टिपात अन्यत्र कहीं कभी देखे भी तो नहीं थे जिससे वह उस प्रभेद को ज्ञात कर पाती कि इसमें अव्यवहार्य क्या है ? उसका कुमारिल रूप, उसका नवयौवन, उसकी ऐन्द्रिय-जुगुप्सा कहीं आश्रित होना चाहती थी। स्वभावतः उसमें वह चंचलता थी भी। वह अपनी समवयस्क तरुण बालाओं की अपेक्षा अधिक चञ्चल थी।

इसके अतिरिक्त अच्युत के प्रति उसका सुलभ आकर्षण सम्राज्ञी सौमित्रा का प्रोत्साहन प्राप्त कर रहा था। सहपत्नी अनन्तसेना से द्वेष,

विग्रह, ज्वलन के अतिरिक्त वैसे सौमित्रा अत्यधिक अबोध थी। सांसारिक लीलाओं के कलुषमय कारणों से वह भी सर्वथा अनभिज्ञ थी। उसे अच्युत प्रिय लगता था। वह देखने में सरल, सुन्दर, सुघर, सलोना था अतः पुत्री से वह सहास्य वार्तालाप कर लेता है तो उसमें वह प्रकृति रूप में कुछ अनुपयुक्त नहीं मानती थी। वह सहपत्नी सम्राज्ञी अनन्त सेना और अब कुछ समय से राजकुमारी ललितांगी को छोड़कर जीवन के शेष प्रश्नों-प्रसंगों पर आवश्यकता से अधिक उदार थी।

उधर सुदक्षिणा सी कच्ची-कोमल-कली में जीवन का अनुभव कहीं से भरने का तो कोई प्रश्न था ही नहीं। अपनी न्यूनावस्था में उभरी मांसलता की दबन से जो मन हिलकोरें लेता था उसमें अनेक बार अच्युत ही आ टकराता था। यों कुंतलाधिपति काकुस्थवर्मन के राज-प्रासाद में प्रहरियों, अंगरक्षकों, अंग-रक्षिकाओं, सेविकाओं की एक भीड़ सी थी जो प्रत्येक समय—प्रासाद के प्रत्येक स्थल में हर समय कार्य रत रहती थी। व्यवस्था के आधार पर राजकुमारी ललितांगी अथवा राजकुमारी सुदक्षिणा के साथ अनेकानेक सेविकायें प्रतिक्षण रहा करती थीं किन्तु अच्युत तथा राजकुमारी सुदक्षिणा समय-समय पर स्थल व अवसर निकाल कर मिलन-व्यापारों में गतिशील थे।

सुदक्षिणा जितनी अबोध थी अच्युत उतना ही धृष्ट, भृष्ट साथ ही परम अनुभवी था। शनैः-शनैः उसने राजकुमारी सुदक्षिणा को भी स्नेह-मिलन व्यवहारों में पारंगत करना प्रारम्भ कर दिया था। नवयौवन का परागमय-अनुराग किसी कौतुक-कलहास की ओर अग्रसर होना स्वाभाविक होता है। उसी रूप में मिलन के सहजातिरेक में राजकुमारी सुदक्षिणा, आत्म-विभोर होती चली जा रही थी।

इधर एक दो अवसरों पर इरा तथा एक अन्य दासी ने अच्युत तथा सुदक्षिणा को शयन-कक्ष में आलिंगन-बद्ध भी देख लिया था किन्तु अच्युत के भय, सुदक्षिणा के स्नेह व्यवहार एवं व्यर्थ ही बितण्डावाद

प्रकट करने के प्रति उदासीनता के कारण दोनों सेविकाओं ने कभी कुछ कहा नहीं।

इन दासियों की भी एक व्यवस्था होती है। एक धर्म होता है। राज-प्रासादों में सेविका-कर्म निर्वाह में उन्हें सदा-सर्वदा ही अनेक प्रकार के स्नेह-व्यवहारों, चिन्त्य प्रसंगों, रहस्यमय कृत्यों को सम्मुख देख कर अनेक अवसरों पर शान्त ही होना पड़ता है। ये कभी जब प्रकट हो जाती हैं तभी कहीं परिस्थिति की उग्रता भी स्पष्ट हो जाती है। यों, अनेक प्रकार से निर्विकार स्थिति में, सेवा करना ही इनका धर्म-कर्म होता है। इसे तो वे अहर्निशि पूर्ण करती हैं।

अस्तु, अच्युत एवं राजकुमारी सुदक्षिणा के प्रेम-सम्बन्धों में क्षण-प्रतिक्षण सम्वृद्धि हो रही थी। विशेषतः इधर जब से राजकुमारी ललितांगी का लग्न मगध युवराज से निश्चित हो गया था और उस दिशा में सम्राज्ञी सौमित्रा एवं उसके प्रतिफल राजकुमारी सुदक्षिणा को हताश होना पड़ा था तब से तो राजकुमारी के अतिरेक की उद्दाम घहरन अधिक तीव्र हो गयी थी।

कुंतल राज-प्रासाद में अच्युत एक निकटतम व्यक्ति था। कुंतलाधिपति का आन्तरिक अंगरक्षक होने के नाते वह प्रासाद के अन्तरतम भाग में भी निःसंकोच आ-जा सकता था। एक तो इस कारण दूसरे इन दिनों कुंतल की दोनों सम्राज्ञियों के मध्य जो विग्रह-विद्वेष अपनी चरम-गति पर था, उस कारण किसी को अच्युत एवं राजकुमारी सुदक्षिणा के प्रणय-व्यापारों की ओर किंचित् भी ध्यान नहीं जा रहा था। प्रासाद में हर समय, वातावरण, कर्कश व क्षोभमय बना रहता था।

साथ ही इधर आचार्य धनञ्जय एवं राजकुमारी ललितांगी के नामों को लेकर जो नवीन एवं विचित्र सा वातावरण उपस्थित हो गया था उस आधार पर सब ध्यान खिंच कर एक ओर केन्द्रित हो गये थे।

इस सब अनर्गल प्रचार में सम्राज्ञी सौमित्रा साथ ही राजकुमारी सुदक्षिणा का विशेष प्रोत्साहन था। उनसे नैकट्य के आधार पर ही सैन्याधिकारी अच्युत के गणों ने यत्र-तत्र तद्विषयक प्रचार प्रारम्भ किया था जो एक प्रकार से चतुर्दिक प्रकट हो रहा था।

वस्तुतः, अच्युत की दृष्टि का विशेष महत्व प्रारम्भ में ललितांगी के प्रति ही था। किन्तु ललितांगी की उदासीनता, इधर आचार्य धनञ्जय का उसका संगीत-शिक्षक नियुक्त होना, अब राजकुमारी ललितांगी का परिणय-स्थापन इस सबसे अच्युत ने राजकुमारी ललितांगी से बैर साध लिया था।

मूलतः, जिस प्रसंग को लेकर सम्राज्ञी सौमित्रा एवं राजकुमारी सुदक्षिणा प्रकट रूप में सम्राज्ञी अनन्तसेना एवं राजकुमारी ललितांगी की विद्रोहिनी हो रही थी, वह अच्युत को हानिकर था। अच्युत यह कब चाहता था कि ललितांगी के अभाव में सुदक्षिणा भी पृथक् हो जावे। उसे सुदक्षिणा का मगध-युवराज के साथ लग्न-प्रस्ताव कदापि प्रिय न था। यों परोक्ष में अनन्तसेना एवं ललितांगी का विरोध उस कारण की सम्पुष्टि थी क्योंकि शनैः शनैः अच्युत के हृदय में यह मूलाधार दृढ़तर हो गया था कि कुंतल की एक राजकुमारी से उसका लग्न निश्चित है अतः वह न चाहकर भी इस प्रश्न पर सम्राज्ञी सौमित्रा का प्रिय बनाना चाहता था। उसी रूप में उसके निर्देश पर अच्युत ने यत्र-तत्र यह बात ही प्रचारित की कि इन सब पान्थशालाओं के अधिकरण में वास्तविक खोज आचार्य धनञ्जय की हो रही है जो अब तक राजकुमारी ललितांगी का प्रणय-नायक बना हुआ था।

यों किसी अधिपति के साथ अंग-रक्षकों की तो एक पंक्ति होती है। अनेक विश्वस्त तथा दुर्धर्ष सैनिक ही किसी नरेश के अंग-रक्षक होने का श्रेय प्राप्त करते हैं। उस आधार पर कुंतलाधिपति काकुस्थ-वर्मन के एक से अधिक अंग-रक्षक होना स्वाभाविक था। अच्युत की ही भाँति उसी के समकक्ष, सात अंगरक्षक और थे जो महाराज के

आन्तरिक अंग रक्षक कहलाते थे। इनमें अच्युत में कुछ ऐसे विलक्षण गुण थे कि वही सर्वप्रिय, सर्वोपरि एवं सर्वत्र प्रकट प्रतीत होता था। वह सर्वाधिक सुन्दर, मधुभावी एवं चाटुकार भी था।

उसके समान ही नन्दिन भी सुन्दर, सरल, सदय एवं सर्व प्रशंसित आन्तरिक-अंग रक्षक था किन्तु न तो वह उतना चाटुकार था न राज-कुलीन नारियों की ओर आकृष्ट कि प्रतिक्षण भ्रमर-गुंजन करता घूमे।

सहकारी होते हुये भी अच्युत एवं नन्दिन में किसी प्रसंग पर प्रतिद्वन्द्विता तो नहीं थी। हाँ, राज-प्रासाद में गतिशील अच्युत की प्रणय-लीलाओं को यदि केवल मात्र किसी ने ध्यान किया था तो नन्दिन की दृष्टि ने। वह अनेक अवसर पर महाराज काकुस्थ वर्मन को संकेत करने की स्थिति में आ चुका था किन्तु एक तो प्रमाण के अभाव में महाराज से कोई बात कहने का वह साहस नहीं कर पा रहा था दूसरे वह गतिविधि का गहन-निरीक्षण भी करना चाहता था।

अच्युत भी कुछ-कुछ जान रहा था कि नन्दिन उसकी गतिविधि का निरीक्षक बनाया जा रहा है। एक-दो अवसरों पर नन्दिन ने अच्युत को सांकेतिक भाषा में सावधान भी किया किन्तु अच्युत-सुदक्षिणा प्रणय-व्यापार साथ ही ललितांगी से स्पष्ट विरोध अविराम गति से चल रहा था।

इन्हीं परिस्थितियों में कुंतलाधिपति काकुस्थवर्मन को सूचना मिली कि अमुक तिथि को मगध राज-प्रतिनिधि महाकवि कालिदास कुंतल पधार रहे हैं। इस समाचार से महाराज काकुस्थ वर्मन को अत्यधिक प्रसन्नता हुयी और एक प्रकार से उन्होंने सम्भावित राज-प्रतिनिधि के स्वागत की योजनायें भी प्रारम्भ कर दीं।

१४

राज-प्रतिनिधि महाकवि कालिदास के आगमन की सूचना पाकर जहाँ एक ओर कुंतलाधिपति काकुस्थवर्मन प्रसन्न थे वहाँ उनकी महाराज्ञी अनन्तसेना अत्यधिक चिन्तित व त्रस्त थीं। अपने स्वभाव की गरिमा में उन्होंने परिस्थिति को उस रूप में महाराज के समक्ष उपस्थित नहीं किया था जिस रूप में परिस्थिति की विवशता थी। जैसा किसी व्यस्त अधिपति में स्वाभाविक होता है—वाह्य रूप में कुंतलाधिपति को यह रोष प्रकट हुआ कि आचार्य धनञ्जय उद्दण्ड एवं अवांछनीय व्यक्ति हैं और उन्होंने तत्काल उस व्यक्ति विशेष का मूलोच्छेदन निर्णीत कर दिया।

किन्तु वस्तुस्थिति क्या है, कारण-निवारण क्या है, उससे उत्पन्न परिस्थिति की सम-विषमता क्या है, शीघ्र निर्णय से क्रियाओं के फल-प्रतिफल क्या हैं इसका ध्यान अनेक वार महाराजाओं को न रहता है न कुंतलाधिपति काकुस्थ वर्मन को ही हुआ।

हां, उस सबसे उत्पीड़ित महाराज्ञी अनन्तसेना ध्यान कर रही थी—मगध से राज-प्रतिनिधि आ रहा है। वह राजधानी में रहेगा। वह राज-प्रासाद में रहेगा। राज-सभा में रहेगा। सर्वत्र रहेगा। निकटस्थ रहेगा। हर समय रहेगा। तब, जब उसे मेरे और सौमित्रा के विग्रह का पता चलेगा तब क्या होगा? तब, जब उसके समक्ष उस धनञ्जय का यह अतिरंजित चित्र उपस्थित किया जावेगा तब क्या होगा? तब इस दुष्टा

सौमित्रा के ललितांगी के विरुद्ध इस अनर्गल—मिथ्या प्रचार से क्या स्थिति उत्पन्न होगी ? तब मगध से जो ललितांगी का लग्न-सम्बन्ध स्थापित हुआ है उसका क्या होगा ? तब यह नीच, अच्युत अपने विरोध-विद्रोह की चरम-सीमायें लांघ जावेगा। तब सुदक्षिणा अपना और अधिक निम्न-रूप प्रकट करेगी। तब यदि आज धनञ्जय समक्ष होता तो वह उसे तो कुचल कर रख देती। तब वे अच्युत को क्यों नहीं कुचल सकती ? तब वे सौमित्रा का क्या करें ? तब वे इस वाचाल व उद्धत बालिका सुदक्षिणा का क्या करें ?

महाराज्ञी अनन्तसेना इसी तर्क-वितर्कपूर्ण मनःस्थिति में अपने विश्राम-कक्ष में पर्यङ्क पर लेटी थीं तभी धीमे से सुमाली ने कक्ष में प्रवेश किया। सुमाली ने आते ही अनन्तसेना के पग दाबने प्रारम्भ कर दिये और अनायास कह उठी—"महादेवी ! आज संध्या समय आपको मेरे साथ चलना होगा।"

"अरे पगली, कहाँ ?"

"कहीं नहीं, केवल अपने इस प्रासाद की अट्टालिका पर।"

"क्यों ?"

"तभी बताऊँगी।"

"अभी बता, न।"

"न। उसका महत्व स्वयं देखने में ही है।"

"मैं ऐसे कदापि कहीं न जाऊँगी। ऐसे कभी कहीं जाना, कुछ देखना, कुछ सुनना—अभीष्ठ नहीं है। ···मैं कहती हूँ, पहेली मत बुझा। स्पष्टतः बता।"

"यदि मुझ पर किंचित भी विश्वास करती हों सम्राज्ञी तो मेरे साथ चलें अन्यथा नहीं। मेरे नहीं उसमें आपके लाभ की ही बात है··· ।"

"वह क्या ?"

"स्वतः विदित हो जावेगा।"

"जो भी हो। तेरे साथ चलने और देखने की ही क्या बात है? स्त्रियों को बिना समझे-बूझे यों जिज्ञासा में कहीं पग नहीं बढ़ाना चाहिये। कहीं जाना-आना नहीं चाहिये। तुझे बताना हो तो बता, अन्यथा वार्तालाप समाप्त कर···।"

"मुझ पर विश्वास नहीं?"

"है भी और नहीं भी। सेवक पर अतुल विश्वास होता है किन्तु अनेक अवसरों पर सेवक के विश्वास पर ही स्वामी का हनन भी हो जाता है।"

"सम्राज्ञी मेरे प्रति भी वही धारणा सम्भावित है।"

"परिस्थितिवश कब किसका मस्तिष्क असंतुलित अथवा विकृत हो जावे, कौन देख आया है? ·····अच्छा छोड़ इस प्रसंग को। देख तो यह कैसा कोलाहल हो रहा है," सम्राज्ञी अनन्तसेना ने अपने विश्राम-कक्ष से अलिंद में पग टेकते हुए कहा।

आदेश पर तत्काल सुमाली बाहर आई और जिस ओर से कोलाहल का स्वर सुनाई पड़ रहा था उधर बढ़ गई। सम्राज्ञी अनन्तसेना अलिन्द के प्रस्तर स्तम्भों में से एक का सहारा लेकर खड़ी हो गई जहाँ से प्रमदोद्यान के रंग-बिरंगे पुष्प एवं शान्त हरीतिमा में उच्चस्थ खड़े अशोक वृक्ष दिखाई पड़ रहे थे। मन के उद्वेग को शान्त करने के लिये अनन्त-सेना यहाँ से नीचे झाँकती रही। तत्काल ही सुमाली लौट आई और ललक कर दूर ही से बड़बड़ाती गई—"अच्छा हुआ महाराज्ञी! आपको कष्ट नहीं करना पड़ा। वह कार्य पहले ही समाप्त हो गया।"

"कौन-सा कार्य?"

"वह अच्युत अंगरक्षक बन्दी बना लिया गया।"

"क्यों?"

"महाराज ने सुदक्षिणा को उसके बाहुपाश में झूलते स्वयं अभी अपनी आँखों देख लिया··· ।"

जैसे प्रकृति डोल गई । जैसे वह प्रस्तर-स्तम्भ महाराज्ञी के सर पर आ पड़ा और वे कह उठीं—"क्या बक रही है तू····· ?"

"आप, वह देखिये । स्वयं देख लीजिए । सैनिक अच्युत को उस बाह्य मार्ग से लिये जा रहे हैं··· ।"

और सम्राज्ञी अनन्त सेना ने देखा, अच्युत बन्दीगृह की ओर ले जाया जा रहा है किन्तु उसकी आकृति में किंचित भी लज्जा के भाव नहीं थे । वह सगर्व अपनी ग्रीवा को उन्नत किये हुए बढ़ा जा रहा था । सम्राज्ञी ने अपनी दृष्टि फेर कर सुमाली पर टेक ली । इस समय वे काष्ठवत् शान्त-स्थिर हो रही थीं । निर्वाक् सम्राज्ञी को देख कर सुमाली ने प्रारम्भ किया—यही नहीं सुदक्षिणा को भी महाराज ने प्रासाद में ही बन्दिनी स्थिति में डाल दिया है । ·····अब सम्राज्ञी सौमित्रा का मान-भंग हुआ अथवा नहीं ? अधिक बढ़ कर बोलने वाले की यही स्थिति होती है ।"

"सुमाली तू इस समय शान्त हो जा," कहते हुए सम्राज्ञी अनन्तसेना अपने विश्रामकक्ष की ओर बढ़ गईं । तत्क्षण ही राजकुमारी ललितांगी उसी ओर आते दिखाई दी ।

"माँ, सुना तुमने । अनर्थ हो गया····· ।"

सम्राज्ञी अनन्तसेना यथावत् मौनस्थ रही । उस समय अनन्त सेना निरन्तर यही विचारती जा रही थीं—ऐसे में यदि मगध का राज-प्रतिनिधि आ गया तो वह क्या सोचेगा कि कुंतल राजपरिवार की कैसी स्थिति है ?' वे ध्यान कर रही थीं—तत्काल महाराज के निकट जाकर कहें कि राज-प्रतिनिधि को कुछ समय के लिये रोक दीजिए किन्तु इस क्षण महाराज की मनःस्थिति जिस प्रकार की होगी उसका ध्यान कर उनके निकट जाना सर्वथा अनुपयुक्त था । अतः एक गहन विलोड़न

सहित सम्राज्ञी अनन्त सेना शान्त-सुस्थिर खड़ी रहीं और एक-दो बार पुत्री को देख गईं। इस समय उनमें एक विचित्र-सा ममत्व जागृत हो रहा था। सुदक्षिणा तथा ललितांगी में कितना अन्तर है। यह कितनी सौम्य, मुखर, सर्वांग-सुन्दर व मृदुभाषिणी है और वह सुदक्षिणा कितनी कर्कश, कितनी उद्धत, कितनी स्वतन्त्र, मूर्ख व अप्रिय है। और इस समय राजकुल की मर्यादा का कैसा सर्वनाश किया है उसने। किन्तु··· ललितांगी, आचार्य। सम्राज्ञी में वह सोच आते ही उन्होंने ध्यान परिवर्तित करने की चेष्टा की और मन को स्वयं शान्त करने लगीं—वह सब अनर्गल प्रलाप है। वैसा असम्भव है। ललितांगी सर्वथा विश्वसनीय है। तभी उनके मुँह से निकला—"ललिते !"

"हाँ, माँ। पिता जी ने, सुना है विमाता को बहुत प्रताड़ित किया है। अनेक कटु शब्द कहे हैं। सुदक्षिणा को एक एकान्त कक्ष में अवस्थित कर पहरा बैठाल दिया है। माँ ! हमें वहाँ चलना चाहिए। सान्त्वना देनी चाहिए·····," अत्यधिक उद्विग्न वाणी में ललितांगी ने व्यक्त किया।

"हाँ, चलना चाहिए किन्तु तुम सोचती हो उसका फल क्या होगा ? सौमित्रा उसको अपना परिहास मानेगी। ऐसे में वह अधिक प्रतिक्रिया शील हो जावेगी।"

"हो जाने दो माँ। हमारी हानि ही क्या होगी ? कुछ अपशब्द कह लेंगी तो हमारा क्या होगा ? हम तो कहीं से दोषी नहीं हैं," ललितांगी ने सरल भाव सहित सुस्थिर शब्दों में कह दिया।

"वह तो दोषारोपण कर ही रही है। कहो, वही प्रलाप प्रारम्भ कर दे। वैसे में मुझे असह्य खिन्नता होगी।"

"माँ, किसी के मिथ्या दोषारोपण से क्या बनता है। और पिताजी ने जब स्वयं देख लिया तो कोई बात बन भी नहीं पाई," ललितांगी व सम्राज्ञी अनन्त सेना चलने के स्थान पर वार्तालाप करते-करते अपने आप

क्रमशः स्वर्ण-पीठिका तथा पर्यङ्क पर बैठ गईं। राजकुमारी ललितांगी के समक्ष भीत सुमाली एक किनारे खड़ी रह गई। राजकुमारी से उसके सम्बन्ध अभी जटिल ही थे। ललितांगी ने उसे अभी क्षमा नहीं किया था।

इसी क्षण प्रतिहारी ने सूचना दी—"महाराज पधार रहे हैं।"

महाराज की तात्कालिक उग्रता का ध्यान कर सभी सतर्क हो गए। सम्राज्ञी अनन्तसेना तो उस समय महाराज से भेंट करना ही चाहती थीं अतः महाराज के आगमन की सूचना पाकर जैसे उनका मन-भार कुछ कम हुआ और उनकी आकृति में विषाद के स्थान पर हास प्रकट हो आया। राजकुमारी ललितांगी ने माँ की आकृति के उस परिवर्तन को देखा। वह पुरुष-नारी के प्राकृतिक सम्बन्धों से अनभिज्ञ थी किन्तु अंग-अनंग के स्वाभाविक प्रभाव ने उसके हृदय का मन्थन प्रारम्भ कर दिया था। उसी आधार पर वह अधिकाधिक गम्भीर होती चली जा रही थी। ऐसे में कहीं उच्छृङ्खलता उत्पन्न होती है तो कहीं गम्भीरता गहन होती चली जाती है। राजकुमारी ललितांगी का गुरु-गाम्भीर्य आचार्य के गमन से तीव्रतर हो गया था।

साथ ही इस क्षण स्वभाव की मृदुता, मन का संवेदन, सौहार्द्र उसे विमाता एवं सुदक्षिणा की ओर खींच रहा था। तत्क्षण ही कुंतलाधिपति काकुस्थवर्मन ने महाराज्ञी अनन्तसेना के विश्राम-कक्ष में प्रवेश किया। अंगरक्षक दल द्वार पर ही रह गया।

"अनन्तसेना! इसी क्षण से मैंने सौमित्रा एवं सुदक्षिणा का कुंतल राजकुल से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया है। संवेदना में उन पर सहानुभूति प्रकट करने का प्रयास भी मत करना·····," कुंतल नरेश की आकृति क्रोध से रक्तावर्तित हो रही थी।

राजकुमारी ललितांगी की उस समय की समस्त संवेदनशीलता वायु में तिरोहित हो गई। उसी क्षण महाराज ने एक गम्भीर दृष्टिपात

ललितांगी पर किया। प्रसंग जिस प्रकार का था उसमें सभी की आकृतियों में निरीह विषाद प्रकट हो रहा था। राजकुमारी ललितांगी भी—'अब महाराज क्या निर्देश करते हैं'—उसी ओर अपना ध्यान टिकाये हुए थी।

तभी महाराज ने आगे बढ़कर ललितांगी के मस्तक पर हाथ फेरा। उसके सुकेशों पर वे विलम्ब तक ममत्व वर्षा करते रहे। राजकुमारी स्नेह-पुलक में शान्त बैठी रही, किन्तु ध्यान करती रही कि कह दे—"पिता ! मेरे आचार्य को कहाँ चले जाने दिया ?"

तत्क्षण ही अनायास कुंतलाधिपति ने प्रकट किया—"ललिते ! अनुभवशून्य व्यक्ति के व्यवहार एवं विचार-स्वातन्त्र्य पर नियन्त्रण आवश्यक है, न ?"

राजकुमारी ने पिता के प्रश्न को एक पल के लिए गम्भीरतापूर्वक मनन किया, आशय समझने की चेष्टा की, स्वयं पर उसके प्रभाव को परिलक्षित किया और उत्तर में सुस्थिर भाव से कह गई—"विचारों पर नियन्त्रण तो स्वयं से ही हो सकेगा पिताजी !"

"किन्तु कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जिनमें विचारों पर भी अंकुश टेकना चाहिए ललिते ! बिना विचारों की मर्यादा के व्यवहारों में सीमायें टिक ही नहीं सकतीं।"

"किन्तु कभी-कभी तो विचार कुछ और व्यवहार कुछ होते हैं, पिता जी। उस विवशता पर तो कोई अंकुश नहीं टिक सकता," ललितांगी ने मन की व्यथा को शब्दों में प्रकट कर दिया।

"स्वस्थ विचार एवं सद्व्यवहार ही नैतिक मान्यता की कसौटी पर सर्वप्रिय हो सकते हैं पुत्री ! साथ ही विचारों एवं व्यवहारों का साम्य व्यक्ति को चिन्तनशील बनाता है। वैसी स्थिति में उसमें परिमार्जन भी स्वाभाविक हो जाता है। ···कभी-कभी तुम्हारी यह 'स्वयं' की स्थिति चिन्त्य होती है ललिते !"

"किन्तु वास्तविकता····· ।"

"यही है कि व्यक्ति की इकाई कभी निरंकुश नहीं रहनी चाहिए। इस तथ्य का अतिक्रमण ही तो अनेक विपत्तियों एवं उत्पातों का सृजन करता है··· ," कहते-कहते ज्यों कुछ विश्राम के हेतु वे राजकुमारी ललितांगी के सम्मुख पड़ी दूसरी स्वर्ण पीठिका पर विराज गये। वे अनेक बार राजपुत्रियों से इसी प्रकार तर्क-वितर्क कर लेते थे तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा की परीक्षा भी। राजकुमारी ललितांगी को संस्कृत से अत्यधिक प्रेम था तथा दर्शन-मीमांसा में वह परम विदुषी थी।

उसके विपरीत राजकुमारी सुदक्षिणा को पठन-पाठन से कोई स्नेह नहीं था। महाराज के अधिक प्रयत्न के उपरान्त उसने थोड़ी संस्कृत पढ़ ली थी। यही कारण था कि पुत्री होने के नाते कुंतल नरेश राजकुमारी सुदक्षिणा को स्नेह तो करते थे किन्तु राजकुमारी ललितांगी की भाँति वे उससे तर्कयुक्त वार्ता का रस नहीं ले पाते थे।

अस्तु, इस क्षण अनायास, मनोविकार एवं सांसारिक व्यवहार पर महाराज काकुस्थ वर्मन ने जो प्रसंग छेड़ा था उससे ललितांगी कुछ विशेष उत्कंठित थी।

तत्काल ही महाराज्ञी अनन्त सेना ने अपनी वार्ता प्रारम्भ करते हुए कहा—"देव ! क्या मगध से आने वाले राज-प्रतिनिधि को कुछ समय के लिए रोका नहीं जा सकता ?"

इस प्रकार अप्रत्याशित प्रसंग को सुनकर कुंतलेश चौंके। तत्परतापूर्वक उन्होंने अपनी भेदक दृष्टि महाराज्ञी पर केन्द्रित की और कह उठे—"क्यों ?"

"राज-प्रासाद का वातावरण किसी विदेशी अतिथि के प्रवास के प्रतिकूल है महाराज !"

महाराज काकुस्थ वर्मन ने ध्यान किया—'जिस प्रासंगिक कारण की ओर महाराज्ञी ने ध्यान दिलाया है वह सर्वथा सराहनीय है' अतएव वे

बोले—"वह तो नहीं है ?"

"मगध····· ।" महाराज्ञी अनन्त सेना इतना व्यक्त ही कर पाईं थीं कि राजकुमारी ललितांगी अपने आसन पर से उठ खड़ी हुई और बोली—"मैं जाऊँगी, पिता जी ।"

मगध का नाम आते ही ललितांगी के उस कथन को सहज लज्जा मान कर कुंतल नरेश मुस्करा दिये और ललितांगी कक्ष से जाने लगी ॥

"सुमाली ! ललिता के साथ जा," महाराज्ञी ने निर्देश किया ।

"कोई आवश्यकता नहीं है, माँ ।"

१५

"मुझे क्षमा कर दो राजकुमारी। क्षमा भी न करो तो एक शंका का समाधान ही कर दो। विगत सम्पूर्ण रात्रि मुझे निद्रा नहीं आयी और मैं यही ध्यान करती रही कि मगध का नाम समक्ष आते ही तुममें कैसा तीखापन भर जाता है। कल महाराज के समक्ष ही देख लो। उसी दिन भी तुम मगध राजकुमार क्यों—युवराज कुमार को—अकुलीन, भ्रष्टा का पुत्र आदि सम्बोधित कर रही थीं। अन्ततः क्यों ?"

"सुमाली ! तू हट जा मेरे सामने से। न मैं तुझे क्षमा प्रदान ही कर सकती हूँ न तेरा वह सब अनर्गल प्रलाप ही सुन सकती हूँ ; जैसा रूपक बाँधकर तू इस समय यहाँ आयी है," राजकुमारी ललितांगी ने स्पष्टतः व्यक्त कर दिया और सुमाली की ओर से दृष्टि घुमाली।

"मैंने तो प्रथम ही कह दिया है कि चाहे क्षमा न भी करो किन्तु इस तथ्य का उद्घाटन कर दो। यदि नहीं करना चाहती तो मैं महाराज्ञी से प्रश्न कर लूँगी," कहते हुए सुमाली चलने को तत्पर हुई।

"ठहर ! माँ से यह सब ऊटपटांग मत कहना। तो बोल क्या कहती है," किंचित अस्थिर होते हुए ललितांगी कह गयी।

"यही कि मगध—युवराज अकुलीन कैसे ?"

"मेरी अपनी मान्यता के आधार पर।"

"वह क्या ?"

"तुझ मूर्खा को क्या बताऊँ ?"

"मैं मूर्खा ही सही किन्तु वह कारण तो बता दो जिसके आधार पर इतना भयानक आरोप लगाने को तुम तत्पर हो।"

"वह एक भयानक कथा है," राजकुमारी ललितांगी ने कहते-कहते घृणा से अपनी नासिका चढ़ा ली।

"कैसी भयानक कथा है राजकुमारी ?"

"वचन दे कि अब कभी आचार्य के प्रति दुर्भावना नहीं रखेगी।"

"मैंने रखी ही कब ?"

"कोई अपशब्द नहीं कहेगी।"

"जो कहा भी था वह तुम्हारे स्नेह-वश। ऐसा भी क्या था कि तुम इतनी अधीर होती चली जा रही थीं।"

"मुझे स्वयं ज्ञात नहीं सुमाली !"

"किन्तु·····।" सुमाली कुछ कहना ही चाहती थी कि उसने देखा राजकुमारी ललितांगी के नेत्रों से अश्रुधार प्रवाहित हो गयी। राजकुमारी के वैसे वैदग्ध की तो उसने कभी कल्पना भी न की थी। राजकुमारी के हृदय पर आचार्य का वैसा प्रभाव तो उसने सोचा ही न था। इस समय वह सचमुच सहानुभूति में भर गयी। अश्रु कितने सशक्त होते हैं। संवेदना को वे कैसे विजित करते हैं।

"सुमाली कोई दूसरी बात कर। मगध युवराज, परिणय, प्रणय, आचार्य का नाम न ले," कहते-कहते अधीर ललितांगी पर्यङ्क पर लुढ़क गयी। अपने रेशमी उत्तरीय को उसने अपने मुख पर ओढ़ लिया।

"उठो मेरी प्रिय ललिते ! इतनी व्यथित न हो। इस वेदना का कुछ कारण भी होते हैं तो हो," सुमाली ने प्रारम्भ किया।

"सुमाली ! तू जा मुझे यों ही छोड़ दे।"

"सखि ! मैं तुझे इतना व्यथित नहीं देख सकती। व्यथा में करुणा का आश्रय है। दया की प्रभावना है। कठोर से कठोर मन भी व्यथित को देखकर द्रवित हो जाता है। फिर मैं तो तुम्हारी सखि क्यों अकिंचन सेविका हूँ·····।"

"नहीं। नहीं। तू मेरी अभिन्न सखि है सुमाली। तू मुझे क्षमा कर दे। मैंने तुझ पर व्यर्थ ही रोष किया," कहते कहते ललितांगी अनायास उठी और सुमाली से लिपट गयी।

सुमाली विलम्ब तक राजकुमारी को व्यवस्थित करती रही। तभी उसने व्यक्त किया—"सुना तुमने। सुदक्षिणा गर्भवती है।"

"क्या ?"

"हाँ।। सुदक्षिणा गर्भवती है।"

"यह असम्भव है।"

"तुम्हें ज्ञात नहीं महाराज एवं महाराज्ञी सम्पूर्ण रात्रि प्रमदोद्यान में घूमते रहे हैं। महाराज अपार क्षोभ व ग्लानि में डूबते चले जा रहे हैं।"

सुदक्षिणा से संयम का इतना अतिक्रमण यह ध्यान कर ही ज्यों ललितांगी कांप गयी। एक पल को उसने ध्यान किया—आचार्य के प्रति मेरी यह अनुरागिल प्रवृत्ति भी अनैतिक है, क्या ? तब वह नैतिक-अनैतिक के प्रश्न पर विलम्ब तक विचार करती चली गयी और उसने मौन साध लिया। सुमाली भी उस निस्तब्धता में शान्त बैठी कुंतल राजकुल की स्थिति पर विचार करती रही।

राजकुमारी ललितांगी सोचती रही—नीति-अनीति पर उसका कोई भी विचार कोई भी मत अपूर्ण होगा। उसने ध्यान किया जीवन में भोग नामक कोई वस्तु है। सांसरिक नीति-अनीतियाँ इसी भोग की विभिन्न स्थितियों पर आधारित हैं। अस्तु, जब तक वह भोग की

वास्तविक स्थिति को न जान ले तब तक नीति-अनीति के सम्बन्ध में उसके समस्त तर्क अपूर्ण हैं। तथैव भोग के सम्बन्ध में क्या ज्ञातव्य है। कब ज्ञातव्य है—इस विषय को समाज ने अपने अधिकार में कर लिया है। सामाजिक मर्यादा का निर्वाह परिवार के निर्देशों पर निर्धारित है। पारिवारिक जन जब उचित मानते हैं भोग के प्रथम ज्ञातव्य के लिये अनुमति देते हैं—ऐसा उसने जान रक्खा है। अतः वह उस विषय में अधिक अधीर नहीं हो रही थी। हाँ किसी पारिवारिक अथवा सामाजिक व्यथा का स्पष्ट उल्लंघन सुदक्षिणा ने किया है—राजकुमारी की तात्कालिक अनुभूति उतनी ही थी।

हाँ, कुछ अनीतियों, कलुष-कालिमाओं, पापों का निर्धारण उसने कौटुम्बिक जनों से ही जाना है, उसी आधार पर वह सोच रही है कि सुदक्षिणा ने पाप किया है। उसी आधार पर वह अब तक ध्यान करती रही है कि मगध युवराज भ्रष्टा-पुत्र है। क्यों? यह तो वह स्वयं भी नहीं जानती। हाँ, भ्रष्टा भ्रष्टा है। कोई दूर रखने की वस्तु। अतएव उसे मगध युवराज से अपना लग्न अप्रिय लग रहा है। भ्रष्टा ने क्या किया—कौनसा कर्म, किस विधि से, यह उसे कहाँ ज्ञात है? जैसे सब कहते हैं वैसे ही वह कह लेती है। तब उसे कोई ज्ञान नहीं।

इसी अशान्ति में थक कर ललितांगी सो गई और सुमाली विलम्ब तक उसके पायताने बैठी रही। वह यह प्रकट ही न कर पायी कि अच्युत एवं सुदक्षिणा का पाणिग्रहण निश्चित किया गया है।

× × ×

कुछ समय के पश्चात् ललितांगी की निद्रा टूटी तब उसने देखा सुमाली जा चुकी थी। वह अपने नेत्रों को मूँद कर पुनः विचारों का तारतम्य स्थापित करती रही। वह ध्यान करती रही—आचार्य का। तब, तब समस्त अज्ञानता सहित भी यह हृदय किस प्रकार आकर्षण को आत्मसात कर लेता है। यह प्रकृति की कौनसी क्रिया है? तब प्रतीत

होता है सहज-आकर्षण की प्राथमिकता का सम्बन्ध भोग से कदापि नहीं है। तब भोग एक पृथक् वस्तु है। किन्तु इस पर भी सामाजिक जन, पारिवारिक जन इस आकर्षण को दूषित कहते हैं। क्यों ? हो सकता है इसमें आगे चल कर दूषण स्थापित हो जाती हो। वैसी जैसी सुदक्षिणा में उत्पन्न हो गयी। तभी प्रसंग की अप्रियता प्रकट होती है। और मानव किसी रूप में अप्रिय कुछ नहीं चाहता। वह सदैव ही प्रिय का अनुरागी है।

किन्तु इस पर भी प्रिय का कोई अनुरागी शुभ कहा जाता है कोई अशुभ, तब यह क्यों ? उसे कुछ पता नहीं, वह कुछ नहीं जानती। इसी अन्तर्द्वन्द्वमय स्थिति में वह उठी। तब उसे चाहा वह अपनी अट्टालिका पर जा कर मन को शान्त करे।

उसका संवेदन अनेक बार चाह रहा था कि सुदक्षिणा से भेंट करे, उसे सन्तोष दे। वह उसकी भगिनी है। उसका उग्र-स्वभाव, उसकी विद्वेषाग्नि, उसकी गति उसकी अपनी है। किसी को उससे क्या प्रयोजन ? किन्तु पिता की आज्ञा का उल्लंघन वह किसी भी विमोहन पर करने को तत्पर न थी।

तत्क्षण उसे ध्यान आ गया शिवालय का। संध्या होने में अभी विलम्ब था। वह अट्टालिका से लौट आयी। तत्काल ही उसने वेश-विन्यास किया, आरती-वन्दना के हेतु सामग्री संजोयी। दों अंग-रक्षिकाओं को साथ लेकर वह शिवालय की ओर प्रस्तुत हुई।

उसे राजमहालय के सिंहद्वार पर पहुँचते ही दौवारिक ने रोका। राजकुमारी ललितांगी हतप्रभ रह गई। तत्काल ही एक अश्व-सैनिक ने वायुगति से सम्मुख आ कर दौवारिक को आदेश दिया—"महाराज की आज्ञा है राजकुमारी को शिवालय जाने दिया जावे।"

राजकुमारी ललितांगी उस निषेधाज्ञा पर कुछ भी निष्कर्ष उपलब्ध करने में असमर्थ थी और तभी वह द्वार पर से ही लौट आयी। वह

शिवालय नहीं गयी !

× × ×

"कुछ ज्ञात हुआ राजकुमारी ? आचार्य वन्दीग्रह में हैं," सुमाली ने राजकुमारी ललितांगी के प्रासाद में प्रवेश करते ही वाह्य-गवाक्ष में प्रकट किया।

"अ.....," और राजकुमारी की पूजन-सामग्री भूमि पर छितर गई। स्वर्ण-पात्र हाथ के संतुलन को खो बैठा।

"राज्य-सीमा में प्रवेश करते ही उन्हें बन्दी बनाया गया है। उनके साथ एक दीर्घ सैनिक पंक्ति है,".....सुमाली कहती गयी।

"तब वे आचार्य नहीं हैं," राजकुमारी ललितांगी के मुख से अनायास ही निकल गया।

१६

आन्तरिक सुरक्षा एवं व्यस्था के हेतु इस समय जो विभाग कुंतल में कार्य करता था उसला सर्वोच्च अधिकारी दण्डपाशाधिकारी कहलाता था। दण्डपाशाधिकारी के अन्तर्गत चौरोद्धरणिक, दाण्डिक, दण्डपाशिक आदि अधिकारी एवँ रक्षक होते थे जो गुप्तचरों ही सहायता व सहयोग से अपराधियों का दमन करते थे। वस्तुतः अपराधी को सर्वप्रथम दण्डपाशिक के समक्ष उपस्थित किया जाता था किन्तु जिन अपराधियों को स्वयं महाराज बन्दी बनाने का निर्देश देते थे उन्हें तथाकथित अधिकारियों के सम्मुख नहीं उपस्थित किया जाता था। उसी के अनुसार अच्युत सीधे बन्दीगृह भेज दिया गया था।

वन्दीगृह में भी अच्युत की आकृति में हास और हृदय में उमंग उभर रही थी। वह अनुराग सहित वासना की जिन गहन-बीथियों में प्रवेश प्राप्त कर चुका था। उस आधार पर उसे विश्वास था कि या तो कुंतलाधिपति उसी क्षण उसके टुकड़े कर देते जिस क्षण उन्होंने उसे राजकुमारी के पास चिन्त्य स्थिति में पाया था। तब अपनी उस मृत्यु से वह प्रसन्न होता किन्तु उसको बन्दीगृह भेजने के अनन्तर महाराज के द्वारा अब उसे कोई दण्ड प्राप्त होगा, यह असम्भव बात थी। विश्वास में उसे यह भी सन्तोष था कि महाराज ने पहले तो उसे दण्डपाशाधिकारी के समक्ष ले जाने का आदेश दिया तदुपरान्त उसे स्वयं ही

सीधे बन्दीगृह भेज दिया। सम्भवतः महाराज ने लोक-लज्जा का ध्यान किया। सम्भवतः अपराध की तालिका में यह अपराध ही न हो। सम्भवतः उसकी नैतिकता-अनैतिकता का पृथक ही विनियम हो। सम्भवतः महाराज ने ध्यान किया—यदि यह दोष है तो अकेले इसने ही नहीं किया है। उसके सहयोग के बिना.....और तभी यह सब ध्यान कर वह गर्वित था कि उसने सुदक्षिणा को ऐसे पाश में जकड़ा है कि उससे महाराज की मुक्ति भी साधारण नहीं है। एक प्रकार से अच्युत उसे अपनी विजय अथवा सफलता मान रहा था।

वह ध्यान कर रहा था किसी मनःस्थिति को सन्तोष देने में ही अपराध का सृजन होता है। चौरकर्म में भी मन को कहीं सन्तुष्टि ही प्राप्त होती है। तब फिर राजकुमारी सुदक्षिणा से उसके सम्बन्धों में दोष क्या है? अपराध क्या है? वह तो प्रकृति की वह प्रवृत्ति है जिस आधार पर कभी नीतिवादी भी विवश हुए हैं—होते हैं।

अस्तु, अपने कृत्यों को न्यायसंगत मानकर अच्युत सन्तुष्टि सहित बन्दीगृह के उस एकान्त कक्ष में भी भविष्य की आशाओं सहित प्रमुदित था।

किन्तु कुंतलाधिपति काकुस्थवर्मन की स्थिति भयंकर थी। लोकापवाद की उन्हें चिन्ता थी। आवेश में वे मस्तिष्क का संतुलन खोते जा रहे थे। उन्होंने अनेक बार ध्यान किया कि स्वयं बन्दीगृह जा कर अच्युत के खण्ड-खण्ड कर देवें। अनेक बार उन्होंने सुदक्षिणा के खण्ड-खण्ड करने की बात सोची। सर्वाधिक क्रोध व उत्तेजना उन्हें सौमित्रा के प्रति थी। तभी वे अत्यधिक उद्विग्नता सहित महारानी अनन्तसेना के प्रासाद में पहुँचे थे। तदुपरान्त सम्पूर्ण रात्रि जागरण में व्यतीत हुई। प्रसंग राज्य का नहीं राजकुल का था। अनन्तसेना ने उन्हें समझाया था कि वे शान्तिपूर्वक परिस्थिति का अवलोकन करें। अनन्तसेना का सुझाव था कि अच्युत के साथ सुदक्षिणा का लग्न करने पर सम्पूर्ण परिस्थिति शान्त

हो सकती है। अन्ततः उनका—महाराज्ञी का—बारम्बार कहना था कि वैसी परिस्थिति में मगध के राजप्रतिनिधि को आने से रोका जावे।

महाराज को रोष इतना था कि अच्युत के साथ सुदक्षिणा के परिणाय की बात सुनते ही वे अनन्तसेना पर क्रोधित हो उठे किन्तु तब रोष की समाप्ति पर उन्होंने अपने तर्क का उपयोग किया। अनेक बार वे सोचते रहे कि वह तो वैसे अनैतिक अपराधों को प्रोत्साहन होगा। किन्तु उसका बचाव तो उसकी पूर्वस्थिति थी। वह कार्य उस मूर्खा सौमित्रा का था। अब जिस विषम-स्थिति में वे घिर गये है उसमें महाराज्ञी अनन्तसेना का कथन प्रासंगिक प्रतीत होता है। परिस्थितियों की अवशता में व्यक्ति के अहंकार विलीन हो जाते हैं। उसकी प्रतिष्ठा भंग हो जाती है। उसका अपना अस्तित्व विलीनोन्मुख प्रतीत होता है। वह कोई महाराज हो अथवा राजपथ का भिक्षु परिस्थितियों की कंचोटन में जब व्यक्ति के समक्ष अन्धकार, शून्य, समाप्ति स्पष्ट होती है तो वह एक अवसर पर, एक स्थल पर, एक क्षण को—समझौता करने की सोच जाता है। अपनी उस अवशता से मुक्ति पाने की चेष्टा में वह विनत हो जाता है।

क्रोध-रोष की चरम गति सहित महाराज काकुस्थवर्मन ने अनन्तसेना के सुझाव की उपयोगिता में अपने को नत किया और उसी निर्णय में तब अपनी उस विकलता की शान्ति सहित प्रमदोद्यान की प्रस्तर-पीठिका पर वे जा बैठे। निकट ही महाराज्ञी अनन्तसेना बैठ गई और महाराज के कन्धे पर उन्होंने अपना सर टेक लिया। महाराज को उस क्षण वह सब स्नेह अप्रिय प्रतीत हो रहा था। उन्होंने सम्पूर्ण रात्रि प्रमदोद्यान की हरित दूर्वा पर डोल कर व्यतीत कर दी। प्रासादों के प्रहरी, अंगरक्षक, सेवक-सेविकायें दूर से महाराज की उस उद्विग्नता को देखकर अस्थिर हो रहे थे। उन्हें कारण भी स्पष्टतः ज्ञात हो चुका था। सर्वत्र सन्तोष

था तो इतना कि वह; दृष्ट-प्रसंग अभी प्रासाद के बाहर प्रसारित नहीं हुआ था।

तभी प्रभात किरण फूटी और महाराज एक अंगड़ाई लेकर प्रस्तर-पीठिका से उठे तथा राजप्रासाद की ओर चले गये। महाराज्ञी भी अपने प्रासाद में चली गयीं।

× × ×

अनायास ही बन्दीगृह का द्वार खुला और अच्युत को मुक्ति-संदेश प्राप्त हुआ। यों प्रभात की मुस्कराहट सहित अच्युत को मुक्ति-सन्देश मिला अवश्य किन्तु इस समय उसमें विचार और पश्चात्ताप घिर रहा था। वह ध्यान कर रहा था कि वह महाराज का अनुचर था। महाराज की उस पर असीम कृपा थी। महाराज उसको अत्यधिक स्नेह करते थे। उसने महाराज के साथ विश्वासघात किया है। नीति-अनीति के तर्क को छोड़ कर उसने महाराज को असीम वेदना दी है। महाराज महान् दुःखी होंगे।

इस समय वह चाहता था महाराज अपने हाथों उसे कठोर से कठोर दण्ड दें। इस समय वह मुक्ति नहीं चाहता था।

साथ ही वह ध्यान कर रहा था उसने राजकुमारी का भी सर्वनाश किया है। राजकुमारी के समक्ष उसकी स्थिति कितनी हेय है। यदि उसने उस पर अपना पाश न फेंका होता तो वह किसी शासक, युवराज अथवा राजकुमार की परिणीता होती। उसकी अज्ञानता का जो उपहास उसने किया है वह अक्षम्य अपराध है। उसने जानबूझ कर कुंतल राज-महालय में ऐसा विस्फोट किया है कि जिसके द्वारा वहाँ की समस्त मान-प्रतिष्ठा का सत्यानाश हो गया है।

अस्तु, वह चाहता था कि सन्देशवाहक प्रहरियों से कह दे कि वह बन्दीगृह से नहीं जाना चाहता किन्तु अनायास ही वह अपने स्थान से उठा और यन्त्रवत् बन्दी-गृह के बाहर हो गया।

बन्दी गृह के भव्य द्वार पर आकर एक पल को वह रुका। वह ध्यान करता रहा किधर जावे ? यह सोच रहा था अपना कलुषमय मुख वह किसी को नहीं दिखावेगा। तभी उसे एक अश्व सैनिक ने सूचना दी—"महाराज्ञी अनन्तसेना भेंट करना चाहती हैं।"

× × ×

महाराज कठिनाई से यह सूचना प्राप्त कर पाये होंगे कि अच्युत को बन्दीगृह से मुक्त कर दिया गया है कि उन्हें महामन्त्री रुद्रसेन ने सूचना दी—"सीमाप्रान्त से ज्ञात हुआ है कि आचार्य धनञ्जय को सीमा में प्रवेश करते हुए बन्दी बना लिया गया है। उसके साथ रक्षकों की एक दीर्घ पंक्ति है जिसे वह सीमा प्रदेश में पहुँच कर लौटा रहा था किन्तु सभी सैनिक बन्दी बना लिये गये हैं।"

कुंतलाधिपति काकुस्थवर्मन घटनाओं के उस वात्याचक्र में उलझ कर अत्यधिक उद्विग्न हो रहे थे। उनका रोष अब राजकुमारी सुदक्षिणा से हट कर ललितांगी के प्रति प्रकट हो रहा था। वस्तुतः आचार्य धनञ्जय की सूचना पाकर वे ज्यों विक्षिप्त हो रहे थे। उन्होंने, सर्वत्र कठोर नियंत्रण का, आदेश दिया। उन्होंने रुद्रसेन को निर्देश दिया—"ललितांगी की गतिविधि पर पूर्ण नियन्त्रण का प्रबन्ध करो रुद्रसेन !"

तभी जब राजकुमारी ललितांगी को शिवालय जाते हुए निषेधाज्ञा प्राप्त हुई और उसके अनन्तर आचार्य की सूचना; तब वह अपने ऊपर आरोपित पिता के निरर्थक नियन्त्रण से अत्यधिक क्षुब्ध हो उठी किन्तु स्वभाव की शालीनता में वह शान्त बनी रही।

१७

"कुमार महाकवि उज्जयिनी में राज-अतिथि हैं ।···तुम्हें बरार को प्रस्थान करना है । वाकाटक नरेश रुद्रसेन से भेंट करनी है । प्रभावती का लग्न-प्रस्ताव प्रेषित करना है ।····· महाकवि भी कार्यक्रमानुसार तुम्हें वहीं मिल जायेंगे । यह कार्य को किसी प्रकार पूर्ण करना ही है । इसमें शीघ्रता भी करनी है । उधर कुंतलेश काकुस्थवर्मन अपनी पुत्री के विवाह की शीघ्रता कर रहे हैं । किन्तु मेरी इच्छा है कि प्रभावती को वाकाटक नरेश को पहले सौंप दूँ ।"

"जो आज्ञा पिता जी ! "

"तो कल तुम्हें ब्राह्म-मुहूर्त में प्रस्थान कर देना चाहिये; " मगधाधिपति चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने युवराज कुमारगुप्त को आदेश देकर ज्यों ही सिंहासन की पीठिका पर अपनी पीठ टिकायी त्यों ही प्रतिहारी ने समक्ष प्रस्तुत होकर दीर्घ-अभिवादन किया ।

"देवाधिदेव ! कुंतल से एक दूत आया है ।"

"प्रस्तुत करो," मगधाधिपति ने तत्परतापूर्वक आदेश दिया ।

"वीरसेन ! कुंतल का दूत किस अभिप्राय से आया?" मगधाधिपति चन्द्रगुप्त ने अव्यवस्थित होकर प्रश्न किया ।

निकट बैठा युवराज कुमारगुप्त भी आन्दोलित हुआ । तभी कुंतल राजदूत के सम्मुख होने के पूर्व ही मगधपति ने अनायास प्रकट किया—

"तो कुमार ! तुम्हें प्रातःकाल ही प्रस्थान करना है। यह सूचना कुबेर-नाग को दे दो।"

सम्राट् उसको वहाँ से विदा करना चाहते हैं और उसके परोक्ष में ही कुंतल राजदूत से वार्तालाप करना चाहते हैं; पिता के इस आशय को समझ कर कुमारगुप्त वहाँ से तत्काल उठ आया।

× × ×

"किन्तु महाकवि तो बहुत पूर्व ही पाटिलपुत्र से प्रस्थान कर चुके हैं। वे तो कुंतल पहुँचे होंगे या पहुंच रहे होंगे।·····आतिथ्य-सत्कार के ऐसे महान् प्रदर्शन की विशेष आवश्यकता नहीं है, राजदूत ! कुंतलेश काकुस्थवर्मन से मेरी ओर से व्यक्त कर देना। सम्राज्ञी सौमित्रा के अस्वास्थ्य का समाचार जान कर चिन्ता हुई। मगध राज प्रतिनिधि महाकवि कालिदास के पहुँचने एवं सम्राज्ञी सौमित्रा के स्वास्थ्य समाचार की सूचना तुरन्त देना राजदूत !" कहते हुये मगधाधिपति सम्राट चन्द्रगुप्त ने कुंतल राजदूत की सम्पूर्ण वार्ता तुरन्त ही समाप्त कर दी।

निराश कुंतल राजपूत मगधपति से विदा लेकर चला गया !'

"देखा वीरसेन ! इस नकार में कैसा आन्तरिक रहस्य छिपा है ?" सम्राट् ने व्यक्त किया।

"वही राजकन्या का हठ सम्राट् !"

"और अब सम्भव है काकुस्थवर्मन भी वचन भंग करने का ध्यान कर रहा हो। यदि उसने ऐसा किया तो मगध सेनायें कुंतल को ध्वस्त कर देंगी वीरसेन !"

"मेरा अनुमान है कुंतल नरेश काकुस्थवर्मन का ऐसा ध्यान नहीं है।"

"वह तो महाकवि की सूचनाओं से ज्ञात हो जावेगा किन्तु इस कुमार को न जाने क्या हो गया है, वीरसेन !"

"युवावस्था का ओज सम्राट् !"

"किन्तु ऐसी उद्विग्नता ?"

"अहितकर नहीं है देव ! अन्यथा युवराज अथवा किसी भी युवक को इस आयु में शुभाशुभ का ध्यान नहीं रहता है महाराज ! "

"तब प्रेमानुराग मानव की नैतिकता का रक्षक है वीरसेन ?"

"अनेक स्थानों पर महाराज !"

"सर्वत्र नहीं।"

"अं·····हाँ, महाराज सर्वत्र नहीं !"

"वीरसेन! उत्तर देते समय झिझके क्यों ?"

"कुछ नहीं महाराज ! प्रेमानुराग की समस्याएँ बड़ी जटिल होती हैं, सोचकर उत्तर देना पड़ता है।"

"किन्तु मैं प्रेम की निरीहता पर विश्वास नहीं करता मन्त्रि! यदि कुमारगुप्त को कुंतल राजकुमारी की अभिलाषा है, अनुराग है तो वह उसे प्रकट करना चाहिये। तब उसका कर्तव्य है कि किसी प्रकार वह अपने स्नेह-पात्र को हस्तगत करे," सम्राट् चन्द्रगुप्त ने इस सम्बन्ध में अपना अभिमत प्रकट किया।

"यह सम्राटों की वार्ता है देवाधिदेव ! यथार्थ प्रेम में अधिकार बल नहीं चलता है महाराज !',

"वैदग्ध एक मानसिक दुर्बलता है वीरसेन !"

"अधिपतियों को जिससे दूर रहना चाहिये, सम्राट्।···यह सत्य है।"

"पुरुषत्व का अर्थ यह नहीं कि नारी के लिए विलाप किया जावे।"

"और नारीत्व महाराज !"

"वह भी यह नहीं कि आश्रय की निरीहता में अपना अस्तित्व विलीन कर दे," सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने जीवन के कुछ तथ्य

अपने मन्त्री के समक्ष व्यक्त किये। वह सम्राट् के व्यक्तित्व की यथार्थता थी जो उनके जीवन का सत्य बन कर प्रकट हुई थी। मन्त्री वीरसेन ही नहीं इस तथ्य को इतिहास जानता था।

राम्राट् चन्द्रगुप्त एवं मन्त्री वीरसेन एकान्त मन्त्रणा गृह में—राज-काज से विश्राम पाकर कुछ सरल वार्ता करने में लीन थे तभी दौवारिक ने पुनः दण्डवत् की।

"क्या है ?" इस समय वीरसेन ने प्रश्न किया।

"काशी के कुछ व्यापारी पधारे हैं, देव !

"उन्हें प्रतीक्षा-गृह में बैठने की व्यवस्था करो।

"वीरसेन ! ये काशी के व्यापारी किस उद्देश्य से आये हैं ?"

"महाराज खम्भात के उपरिक ने काशी के कुछ सार्थवाहों को अकारण ही रोक कर उन्हें अधिक कर देने को विवश किया है। सम्भवतः उसी हेतु आपसे भेंट करना चाहते हों—" मन्त्री वीरसेन ने कहा।

"उन्हें बुलाओ।"

× × ×

"महाराज! ताम्बूल, पुंगीफल, मसालों का प्रयोग बढ़ रहा है। जनता में सूखी मेवा भी अधिक प्रयुक्त होती है। ताम्रलिप्त होकर हमारे सार्थवाह विगत त्रैमास में जावा, सुमात्रा तथा लंका द्वीप से अधिक मात्रा में मसाले तथा पुंगीफल लाये हैं।....."व्यापारियों के प्रमुख मण्डलीय सदस्य ने व्यक्त किया।

"और यह जो चीन देश का रेशम आप धारण किये हैं श्रेष्ठि !" महाराज ने सहास्य मुद्रा में प्रकट किया।

"महाराज ! चीन के रेशम के स्थान पर हमें अधिक मात्रा में नील तथा चाँदी देनी पड़ती है।"

"खम्भात में आप महानुभावों को क्या असुविधा हो गयी ?"

"महाराज ! वह प्रसंग हम नहीं छेड़ना चाहते थे किन्तु अब हमें कहना पड़ता है कि कल्याण तथा भरहुत के बन्दरगाहों में हमें पूर्ण सुख है। इधर खम्भात के उपरिक ने हमें व्यर्थ ही कष्ट देना प्रारम्भ कर दिया है। अभी, विगत अनेक दिवसों से हमारे सार्थवाह वहाँ रुके हुए हैं···।"

"वीरसेन ! काशी के सार्थवाहों को तुरन्त मुक्त किया जावे। वहां के उपरिक का स्थानान्तरण कर दिया जावे···।"

"महाराज राजस्व के सम्बन्ध में भी कुछ प्रार्थना करनी है।"

"कहिये श्रेष्ठिजन !"

"हम अभी तक सोलह प्रकार के कर-भार से यों ही दबे हुए हैं। अब हम पर नवीन युद्ध-कर न लगाया जावे। साथ ही हम अब तक सोलह से पच्चीस प्रतिशत कर देते थे। उसे यथावत् रक्खा जावे। उसमें वृद्धि की जो योजनायें अर्थ-मन्त्री ने प्रेषित की हैं उससे व्यापारियों में क्षोभ का वातावरण प्रकट हो रहा है सम्राट् ! तथा हम राजस्व अन्न के रूप में ही देते चले आ रहे हैं। हम अपनी मुद्राओं का प्रयोग विदेशों में करना चाहते हैं। उससे हमें स्वभावतः सुविधा होती है।"

"वैसी ही व्यवस्था की जावेगी श्रेष्ठिजन ! आप निश्चिन्त रहें," मगधाधिपति सम्राट् चन्द्रगुप्त ने व्यापार-मंडल को विदा किया।

चलते-चलते भी व्यापारियों के मुख्य-वक्ता ने प्रकट किया—"सम्राट् ! कभी युवराज को काशी दर्शनार्थ भेजिये।"

"अवश्य श्रेष्ठि ! अवश्य भेजेंगे। और अभी तो युवराज के पाणि-ग्रहण अवसर पर पहले आपको पाटलिपुत्र पधारना होगा।"

"अहोभाग्य ! अहोभाग्य ! महामहिम !"

१८

"जानते हो युवराज कुंतल का दूत क्यों आया ?"

"क्यों आया ?"

"तुम्हें कुंतल राजकुमारी के हेतु अयोग्य सिद्ध करने।"

"……।"

"चुप हो गये। वह आया था महाकवि को कुंतल पधारने को मना करने। यह कहने कि कुंतल अभी इस स्थिति में नहीं है कि वह किसी राज्यातिथ्य का स्वागत कर सके। यह कहने कि कुंतलपति इस लग्न स्थापन की अवैधता को मानने लगे हैं। यह कहने कि मगध-युवराज इस योग्य नहीं कि उसका उनकी पुत्री से पाणिग्रहण हो। यह कहने कि स्वयं कुंतल-कुमारी ललितांगी ने यह घोषणा की है कि वे जीवन भर अविवाहिता रहने में अपना सौभाग्य मानेंगी किन्तु उनका लग्न एक निरर्थक युवराज से न किया जाय।"

"……।"

"बोलो नहीं तो मैं कहता ही जाऊँगा। मैं कहता ही जाऊँगा कि यह किसी व्यक्ति के महत् अपमान की बात है। यह कि ऐसे प्रभुता सम्पन्न महान् मगध के महामहिम युवराज का ऐसा तिरस्कार ? शिव, शिव···।"

"भद्रसेन अब आगे एक शब्द भी न कहना।"

"अन्यथा।"

"अन्यथा यही कि तुमको मैं अपने साथ नहीं ले जाऊँगा। तुमको यहीं से पाटलिपुत्र लौटा दूँगा।"

"तुम होते कौन हो साथ ले जाने—न ले जाने वाले। मुझे स्वयं तुम्हारी रक्षार्थ मगधाधिपति ने भेजा है।···और ठीक है, न ले जाओ। मैं जाता हूँ। मैं लौट जाता हूँ। 'वहाँ' अपने आप सम्भालना," कहते-कहते जैसे भद्रसेन उस हाथी से फाँदने का उपक्रम करने लगा जिसपर वह व युवराज कुमारगुप्त बैठे थे।

युवराज कुमारगुप्त बरार के वाकाटक नरेश के पास अपनी भगिनी का लग्न-प्रस्ताव लेकर जा रहा था। युवराज एक सुसज्जित हाथी पर बैठा हुआ था। हाथी अत्यधिक दर्शनीय था। उस पर स्वर्ण-रजत निर्मित हौदा स्वर्णतार खचित झूल पर रक्खा हुआ था। गजवाहक बहुमूल्य राजवेश पहने गज का संचालन कर रहा था। हौदे पर चन्दोवे सी झालरदार छतरी तनी हुई थी जो धूप से युवराज की रक्षा कर रही थी। युवराज के साथ लगभग सौ मागध वीर, रक्षार्थ, श्रेणि-बद्ध चल रहे थे। युवराज ने निश्चयानुसार अभी प्रातःकाल ही पाटलि-पुत्र से प्रस्थान किया था और अपने अनन्य सखा साथ ही अंगरक्षक भद्रसेन से बीती वार्ता करता जा रहा था।

चलते-चलते हाथी न रुक रहा था न लौट रहा था। अतएव दोनों ही मित्र खिन्न आकृतियों के बोझ सहित हाथी पर झूलते जा रहे थे। स्वभावतः कुमारगुप्त के हृदय में एक विषाद-रेखा अंकित हो जाती थी, जब भी कोई अप्रिय वार्ता अथवा प्रसंग सम्मुख आता था। यों मित्र भद्रसेन की वार्ता में परिहास भले ही हो किन्तु उसमें छिपी सत्यता से कुमारगुप्त भली प्रकार परिचित था।

तत्काल ही भाव परिवर्तित करते हुए तथा युवराज के क्षोभ में कहीं आनन्द और कहीं संवेदना प्रकट करते हुए भद्रसेन ने प्रारम्भ किया—

"मगध युवराज की यह उद्विग्नता तो कार्य का नाश ही करके छोड़ेगी। सहस्र-वार्ता के आधार पर जब राजधानी में ही यह निश्चित हो गया था कि यों सुदूर स्थान में बैठे किसी व्यक्ति के विचारों को कैसे ज्ञात किया जा सकता है ? वहाँ चल रहे हैं। एक कार्य की निवृत्ति के उपरान्त ही तो कुंतल जा सकेंगे। अथवा ऐसा हो तो पहले कुंतल ही प्रयाण किया जावे।···हमें क्या; हमें तो रक्षा करनी। भूमि के किसी छोर पर भी जाकर दास्य-कर्म का निर्वाह करना।·····और राजकुमार को; उन्हें भूमि के किसी छोर पर भी जाकर नारी के अनुराग में शिखान्त डूबना। डूबो। कौन रोक सकता है। अब सुनिये। राजकुमारों में भी नवीन प्रकार का रोग चला है। पाणिग्रहण के पूर्व उन्हें वैदग्ध-ज्वर के आक्रमण होने लगते हैं। ताप-शीतल वायु के गमन के साथ ही उनके रक्तचाप की गति चंचल-मन्द होती है। हास-विलास के प्रदर्शन में यत्र-तत्र जनसंख्या एकत्र हो जाती है। सृष्टि—चिकित्सक-शून्य है। जगती-तल पर कोई औषधि नहीं। कोई उपचार नहीं। एक अमोघ उपचार है। सुंदरि-कटाक्ष-सूचिका-वेधन। उससे कभी, क्या, सदैव ही लाभ ही लाभ प्राप्त होता है।···और मगध के यशस्वी युवराज इसी हेतु गज-यात्रा कर रहे है। दुष्ट गज भी पीड़ा देता है। कितने हिचकोले लग रहे हैं पीड़ित कुमार को·····," कहते-कहते भद्रसेन अट्टहास कर उठा।

युवराज कुमारगुप्त भी बिना हँसे न रह सका।

इसके अनन्तर ही दोनों मित्रों में मार्ग भर, सरस वार्ता होती रही और वे कुंतल जाकर राजकुमारी ललितांगी से एकान्त भेंट की विभिन्न योजनायें बनाते रहे। भद्रसेन युवराज को कभी खिन्न करता तो कभी हँसा देता था। सचमुच ही, कुमारगुप्त जैसे विरागी हो रहा था। उसमें प्रथम-दृष्टि-निक्षेप में जो अनुराग का सम्मोहन स्थान पा गया था उससे उसका हृदय मीनवत् अस्थिर होता जा रहा था। यों राजकुमारी ललि-तांगी से लग्न निश्चित था और उसमें हेर-फेर भी यों सरल न था

किन्तु सदा ऐसी ही सूचनायें प्राप्त होती थीं कि राजकुमारी विवाह को ही तत्पर नहीं है। तभी दोनों मित्र बैठ कर न जाने किन-किन कारणों की संयोजनायें किया करते थे। तब वे राजकुमारी के कल्पना-चित्र उतारते और कल्पना में ही कभी उसकी प्रशंसा और कभी उस पर दोष आरोपित करते थे। वे विचारते—कहीं अन्यत्र तो·····।

ध्यान करते ही राजकुमार त्रस्त हो जाता। वह विचार करता—वह रूप, वह लावण्य, वह अमित मोह-मृदुता, वह यौवन, ऐसा अंग-सौष्ठव, ऐसा स्निग्ध स्वर्णाभ गात, ऐसे ज्योति-आभामय आमन्त्रक नेत्र, उसका वह सम्मोहन—वह किसी पर आश्रित न हो असम्भव। कोई उस पर आश्रित न हो असम्भव। और तब पुनर्वार कुमारगुप्त विषाद में विलीन हो जाता। तभी कभी आशा-दीप भी प्रकाशित होता। यदि वह इतना सौभाग्यशाली हुआ कि ललितांगी का एकच्छत्र स्वामी बना। यदि उसने उसे सम्मोहित कर लिया तब·····। तब वह रुदन-विलाप क्यों करता है? अधिपति तो न जाने कितनी कामनियों का स्वामी हो सकता है? वह तो इच्छानुसार रमणियों के साथ रमण कर सकता है। वह न जाने किनने रूप उपकृत कर सकता है। कितने कुचल सकता है। वह राजकुमार है। वह युवराज है। वह कमिनियों का नहीं, स्वरूपाओं का नहीं, वह नर-पति है। वह नरेश है। वह सम्राट् है।

"किन्तु—इससे कुछ नहीं। रमणियों से रमण करना, कामिनियों के काँचन गात्र पर इठलाना, लावण्यमयी किशोरियों का दर्प-विदीर्ण करना, काम-रति लीलाओं से विलास कक्ष को पूरित करना, इसमें कुछ श्रेय नहीं। इसमें कोई जीवन नहीं। इसमें कोई नवीनता नहीं। इस चिर नियम की सम्पूर्ति में कोई उत्साह नहीं।

उसमें हृदय की मान्यता चाहिए। उसमें शरीर का आरोपण नहीं चाहिए। उसमें रमणी-रमण नहीं हृदयार्पण चाहिए—उसमें आत्मोत्सर्ग चाहिए। उसी में जीवन की यथार्थता का सत्य स्वरूप छिपा है। परम आनंद

परम सुख, परम तृप्ति है। वह पूर्णता है···किन्तु वह स्वयं तो अनुभव शून्य है। वह पूर्णता है भी अथवा नहीं। उसे क्या पता पूर्णता क्या है? वह रूप का आकर्षण ही तो है जिसके पीछे वह उन्मादी हो रहा है। वह ललितांगी ही तो है जो उसे प्राप्ति के हेतु उद्विग्न कर रही है। कहाँ है हृदय की मान्यता ? कहाँ है हृदयार्पण ? कहां है आत्मोत्सर्ग ? कहाँ है पूर्णता ?

और युवराज ज्यों गति शून्य होकर हौदे की स्वर्ण पीठिका पर पीठ टिका कर बैठ गया।

"फिर वही ताप ? वही ज्वर ? वही उन्माद," भद्रसेन कह उठा।

युवराज निर्वाक् था।

"यह क्या है ? चलो तुमको कितनी ललितांगियें चाहियें ? सुलभ नारी-रूप के हेतु इतना क्रन्दन····· "त्वरित शब्दों में भद्रसेन कह गया।

"एक·····एक·····एक·····।"

"जो सुलभ है।"

"उसमें कोई आनन्द नहीं।"

"यह कैसा कथन है ?"

"यही कि सुलभ को दुर्लभ करके प्राप्त करना चाहता हूँ।"

"तो परिणय नहीं चाहते। प्रणय-लीलाओं की अनुभूतियों में विवश उन्माद का आह्वान करना चाहते हो।"

"वही·····वही·····वही।"

"वह भी तुम्हारी शक्ति का नहीं। फिर भी चला देखते हैं·····," भद्रसेन ने व्यक्त किया।

कुमारगुप्त निरन्तर अन्तरिक्ष की ओर दृष्टि केंद्रित किये हुये था। गज अग्रसर हो रहा था। वाकाटक नरेश रुद्रसेन का बरार अभी दूर था। तभी भद्रसेन ने पुनः प्रारम्भ किया—"कुमारगुप्त ! यदि मार्ग

भर तुम्हें यही क्रन्दन करना है तो रोको हाथी। मैं किसी सैनिक का अश्व प्राप्त करता हूँ। मुझे यह रुदन-विलाप बहुत अप्रिय लगता है।"

"मूर्ख ! तुम इस अद्वितीय आनन्द को क्या जानो।"

"मुझे कोई आवश्यकता नहीं है। रति-काम-गुण सम्पन्ना एम परम रूपवती गृहवासिनी है। वही चैन नहीं लेने देती। किसी और को देखने का अवकाश किसे है ? और तब प्रणय—प्रसुराग की बातें···शिव, शिव क्यों मेरी मृत्यु निश्चित करना चाहते हो ? युवराज, मित्र होकर इतना बड़ा अपकार मत करो। मुझे अभी मृत्यु सुख नहीं चाहिए। अभी मुझ में अपार शक्ति है—जीवन है। अभी मुझे अंग-अनंग के साम्राज्य में विचरणकरने दो। रमणी की ज्योत्स्ना में अकं ठ लीन होने दो। यदि मुझे प्रणय करना ही होगा तब वृद्धावस्था में करूँगा। तब इन्द्रियों की कोई आवश्यकता भी नहीं रहेगी। मृत्यु भी निकट होगी·····!" कहते कहते भद्रसेन खिलखिला कर हंस दिया।

"भद्रसेन ! यह प्रसंग तत्काल समाप्त हो।"

"तत्काल।"

कहकर दोनों मित्रों ने एक-दूसरे की ओर पीठ फेर ली। भद्रसेन को उस क्षण परिहास सूझ रहा था और कुमारगुप्त गम्भीर बना बैठा था। उस समय उसे चिन्ता वाकाटक नरेश की नहीं कुंतल नरेश की थी। इस समय बरार नहीं कुंतल के कल्पना दर्शन हो रहे थे। इस समय ध्यान मुख्य कार्य की ओर नहीं था, किसी अन्तर्वेसिनी का था जो उसके समक्ष आवेगी। तब वह धीमे से उसे ललितांगी के निकट भेजेगा। उसके संदेश में निमन्त्रण होगा। भूतकाल का रुदन होगा। भविष्य वचन होंगे तब ललितांगी के मिलन की योजना परिपूर्ण करने में वह सहयोगिनि के रूप में स्वर्गीय देवी सी प्रतीत होगी। तब·····कुमारगुप्त ने पुलक में अपने अतिरेक को शान्त करने में हेतु कन्धे झकझोर लिए ज्यों उसमें कोई कंपन व्याप्त हो रहा हो। तब पुनः सुस्थिर होकर उसने भद्रसेन

को अपनी ओर से झकझोर कर प्रारम्भ किया—"भाभी को अभी भी रति-काम-गुण सम्पन्ना ही पुकारे जाओगे दुष्ट ! अब तो बच्चों की माँ सम्बोधित किया करो·····।"

"सम्बोधन कुछ भी हो। वे गुण तो और तीव्र होते जा रहे हैं·····।"

"तब·····।"

"साधु-वृत्ति धारण करने वाला हूँ।"

"न। शील-व्रत ले लो।"

"व्रत टूटने के लिये लिया जाता है।"

"कुछ और उपाय करो।"

"मित्र को भी समकक्ष ले आऊँ, तब विचारूँगा।"

"यह भ्रम है।"

"हाँ ! जैसे ये अधिपति सन्तान कष्ट से तो मुक्त रहते हैं।"

"वह रहते होंगे तुम ! अधिपति सन्तान कष्ट से मुक्त हों तो सम्राट् कहाँ से हों।"

"और तुम्हारे से स्त्रैण-युवराज कहाँ से आवें ?"

"फिर यही अनर्गल·····।"

"मैं कहूँ तो अनर्गल।"

"मुझे स्त्रैण कह कर तुम किस विधान की पुष्टि करने की इच्छा रखते हो ?"

"कोई नहीं ! तुम्हारा यह सुन्दर तथा बलिष्ठ व्यक्तित्व किसी विधान की पुष्टि चाहेगा? किन्तु तुम्हारा यह स्त्रैण-विलाप कितना उपहासास्पद है ? कभी सोचा ?"

"हृदय से विवश हूँ, मित्र !"

"यह प्रवञ्चना है।"

"स्वानुभूति होती तब तुम्हें ज्ञात होता।"

"शिव, शिव ! किन्तु मानसिक संतुलन और वह भी मगध के भावी सम्राट् से उपेक्षित । तब हम उसकी अपेक्षा किससे करें ?"

"अच्छा दार्शनिक-प्रवचन छोड़कर यह बताओ कि भेंट कराओगे ?"

"अवश्य किन्तु ठीक रहोगे तब ।"

"ठीक रहूंगा ।"

"यों नहीं ।"

"तब कैसे ?"

"नक्षत्र-गणना नहीं करोगे । अन्तरिक्ष को समीप नहीं बुलाओगे । भैरवी नहीं मल्हार गाओगे ।"

तभी दोनों मित्रों ने अनुभव किया कि रात्रि अपनी पूर्ण गति पर है । उनका गज तथा उसके पीछे अंगरक्षकों की श्रेणियाँ अश्वों पर गतिमान हैं । सर्वत्र चन्द्रिका ज्योतित हो रही है । प्रतीत होता था शारदीय पूर्णिमा में नक्षत्र-लोक मगध-युवराज को आस्वस्त करने के हेतु सुगन्धिमय वायु प्रसारित कर, मुस्करा रहा है ।

"रात्रि विश्राम कहाँ करोगे, भद्रसेन ?"

"कोई ग्राम आने दो ।"

एक प्रहर आगे बढ़ने के उपरान्त मगध-युवराज को एक ग्राम दृष्टिगत हुआ और तब गजसंचालक ने गज को तीव्र गति पर दौड़ा दिया ।

"यदि गजगामिनि की यह गति हो तब, युवराज ! पुनः मृदु-हास सहित भद्रसेन ने व्यक्त किया और अपने उत्तरीय को वायु-वेग से सँभालने का प्रयत्न करने लगा ।

गजराज इस समय अपनी गति के पूर्ण वेग में थे । पीछे अश्वों के पगचापों के शब्द भी तीव्रतर हो रहे थे ।

कुमारगुप्त भी भद्रसेन की बात पर हँस दिया । वह बोला, "क्या प्रश्न किया है, तुमने ? अभी महाकवि से भेंट होगी । नायिका-भेद सहित गजगामिनि के गुण भी पूछ लेना ।"

"अवश्य पूछूंगा।"

तब यह दल ग्राम के निकट पहुँच गया। मगध-युवराज के आगमन की सूचना पाकर जैसे समस्त ग्राम में कोलाहल मच गया। ग्राम के तोरण में प्रवेश करते-करते ग्रामवासियों की एक भीड़ एकत्र हो गई। ग्राम का मुखिया एवं राज्य-नियुक्त अधिकारिन ने मगध-युवराज का स्वागत किया। उन्होंने उनसे ग्राम-स्थित मुखिया के भवन में रात्रि व्यतीत करने का अनुरोध किया किन्तु युवराज ने ग्राम के पूर्वीय तोरण पर अवस्थित एक छोटी किन्तु स्वच्छ पान्थशाला में ही रात्रि व्यतीत करने का निर्णय किया।

× × ×

इस पान्थशाला में युवराज के आगमन के पूर्व ही दो पथिक शयन कर रहे थे। कोलाहल सुन कर ये अस्त-व्यस्त हो गये तथा अपनी अनिद्रा के कारण प्रकट रोष में ये न जाने क्या बड़बड़ाते रहे।

शीघ्र ही अधिकारिन व मुखिया ने अनेक व्यवस्थायें उसी पान्थशाला में एकत्र करना प्रारम्भ कर दीं। गुप्त-युगीन गाँव के मुखिया के यहाँ से तत्काल स्वर्ण-पर्यङ्क आ गया। भद्रसेन को भी एक अन्य, सुन्दर पर्यङ्क लाया गया। अन्यान्य अश्व-रक्षकों को सम्पूर्ण रात्रि अपने अश्वों पर ही व्यतीत करनी थी अतएव वे उस ओर से उदासीन थे।

उधर वे दोनों अनिद्रित पथिक त्रास में नवागन्तुकों को मन ही मन कोस रहे है। तभी उनमें से एक बोला—"तब ध्रुव-स्वामिनी ··?"

शब्द सुनते ही युवराज कुमारगुप्त एवं भद्रसेन स्थिर हो गये। उस समय पान्थशाला में भली प्रकार प्रकाश नहीं हुआ था। एक तैल-दीप पान्थशाला के द्वार पर लटक रहा था। शब्द सुन कर भद्रसेन ने तत्काल कहा—"युवराज! क्या इसकी वार्ता सुनें?"

"हाँ।"

"तब बाहर इस कोलाहल को शान्त कर आओ और अधिकारिन से कह दो कि मुझे तीव्र निद्रा का प्रकोप है। पर्यङ्क बाहर ही पड़े रहने दो सेवकों से अपने बिछावन मंगवा लो। हम भूमि पर ही शयन करेंगे," कुमारगुप्त ने व्यक्त किया और यह सोच कर कि पथिकों की वार्तालाप का कुछ अंश छूट न जाय वह उनके निकट जा खड़ा हुआ।

पथिकों को क्या ज्ञात कि निकटस्थ व्यक्ति का महत्व क्या है ? पान्थ-शाला और पथिक। उसमें क्या असमानता ?

तभी एक पथिक ने वार्तालाप को विश्राम देकर जल पिया। अपने साथी को पिलाया। उस अर्ध-अन्धकार में ही ताम्बूल-पान सेवन किया और बोल पड़ा—"खड़े कैसे हो भाई ? इधर कहीं लेट रहो। अब हमारी निद्रा तो तुमने भंग कर ही दी। जानते हो सम्पूर्ण रात्रि जागरण में ही व्यतीत होगी·····तब तुम भी न सो पाओगे।"

"ऐसा ही सही·····," युवराज के कथन के साथ ही भद्रसेन वहां पहुँच गया। अनेक भृत्यों ने युवराज का बिछावन वहीं भूमि पर प्रतिष्ठापित कर दिया। उसके निकट ही भद्रसेन का बिछावन बिछ गया। तब वे भृत्य यथास्थान लौट गये और युवराज कुमारगुप्त तथा भद्रसेन अपने वेश ढ़ीले कर अपने-अपने बिछावन पर लेट गये।

"तुम्हारे साथ तो बड़ी भीड़ है। कोई सार्थवाह हो क्या ?" उनमें से एक पथिक ने प्रश्न किया।"

"हां," तत्परता पूर्वक भद्रसेन ने उत्तर दिया।"

"तब तो अथाह मुद्रा साथ लाये होगे ? तब हमें क्यों दुःखी किया ? हमारी निद्रा क्यों भंग की ?" वह पथिक कहता गया।

"आप हमें क्षमा कर दें।"

"इससे क्या होगा ? क्या हमें नींद आ जायेगी ? क्यों ?"

"तब हमें क्या करना चाहिए ?"

"यही कि अब शान्ति-पूर्वक लेटे रहना चाहिए।"

"पश्चात्ताप-स्वरूप हम वैसा ही करेंगे पथिक !" कुमारगुप्त ने व्यक्त किया ।

"देखो ! एक काम करो । उस प्रवेश-द्वार के दीप की प्रकाश-किरणें हमें दुःख दे रही हैं । इन्हें और शान्त कर दो," पथिक बोला ।

"उचित है," कहते हुए भद्रसेन अपने बिछावन पर से उठा । उसने पान्थशाला के बाहर आकर देखा, अन्य अंग-रक्षकों की पंक्तियां दूर छितर कर पहरा दे रही हैं । ग्राम का मुखिया व अधिकारिन अपने कुछेक ग्राम वासियों सहित सम्पूर्ण रात्रि पान्थशाला के बाहर के मैदान में ही व्यतीत करने का उपक्रम कर रहे हैं ।

"आप लोग विश्राम करें बान्धव !"

"असम्भव सेनाध्यक्ष जी ! मगध युवराज हमारे गाँव में और हम सो जावें । अहोभाग्य ! अहोभाग्य ! आप-विश्राम करें·····किन्तु के पर्यङ्क·····?" ग्राम के मुखिया ने अनायास प्रश्न किया ।

"'युवराज की वैसी ही इच्छा है ।"

"युवराज इतने अनुदार क्यों हैं कि हमारा आतिथ्य भी स्वीकार नहीं करना चाहते ?"

"ऐसा नहीं है मुखिया जी ! वह युवराज का केवल मात्र सरल भाव है । वे पान्थशाला में पूर्व से ही लेटे दो पथिकों का साहचर्य सुख लेना चाहते हैं । आप खिन्न न हों," कहते-कहते भद्रसेन ने देखा कि शनैः-शनैः ग्रामवासियों की गिनती बढ़ रही है । प्रतीत हो रहा था, रात्रि में ही सम्पूर्ण ग्राम वहाँ एकत्र हो जावेगा ।"

"मेरा अनुरोध है कि आप ग्राम्य-जन अब विश्राम करें । हम प्रातः काल भेंट करेंगे । अच्छा, विदा !" कहते हुए भद्रसेन ने स्वयं अपना छुटकारा किया । उसे लग रहा था—'ध्रुवस्वामिनी·····' कहीं वार्तालाप प्रारम्भ न हो गया हो ।"

१६

'हां तो ध्रुवस्वामिनी का क्या हुआ ?"

"वह यथावत् महाराज्ञी ही बनी रही ।"

"किन्तु हुआ क्या ?"

"होता क्या ? कोई आज की बात है अट्ठारह वर्ष व्यतीत हो गये—अट्ठारह वर्ष·····।"

"किन्तु इतिहास क्या है ? वह तो कृपा करके बताइये ।"

"पथिक ! सुनना ही चाहते हो तो सुनो," दूसरे ने प्रारम्भ किया—"वह युग था जब सम्राट् समुद्रगुप्त दिग्विजय कर रहे थे । यह मैं आपसे विशेषतः कह रहा हूँ कि आप भी एक संगीतज्ञ हैं । हमारे स्वर्गीय सम्राट् महान् संगीतज्ञ थे । वाह ! अद्वितीय वीणा-वादक थे महाराज ! अपने वीणा-वादन में उन्होंने नारद और तुम्बरु को भी लज्जित कर दिया था·····।"

"अच्छा···अच्छा । सम्राट् समुद्रगुप्त जैसे महान् दिग्विजयी और संगीतज्ञ ? खड्ग और वीणा-वीणा और खड्ग क्या असाम्य है ? कर्कशता-कोमलता का कैसा सामञ्जस्य है ? निरीह निर्दयता—महान् मृदुता का कैसा एकीकरण है," द्वितीय पथिक ज्यों विस्मय सहित कहता ही गया । अन्धकार में उसकी भाव-भंगिमाओं के परिवर्तन तो अदृश्य थे किन्तु शब्द-ध्वनियों से आश्चर्य प्रतीत हो रहा था ।

"पथिक ! आप इतने अधीर न हों। महाराज संगीतज्ञ होने के पूर्व काव्य-कला-धर भी थे। अनेक काव्यों के रचयिता सम्राट् समुद्रगुप्त के साथ कविराज की उपाधि भी लगाइये, भगवन् ! वह वैसा युग था। हमारे वैसे सम्राट् थे। कवि हरिषेण एवं बौद्ध-दार्शनिक वसुबन्धु से शास्त्रार्थ करके वे अपनी बुद्धि प्रखर किया करते थे। आप जानते हैं—वे अमनुज कहलाते थे। अचिन्त्य पुरुष। 'लोक-समय-क्रियानुविधान-मात्र-मानुष' अर्थात् समयानुकूल कार्य करने वाले ; धन में कुबेर के समान, न्याय में वरुण के सदृश, शक्ति में इन्द्र के समान, अन्तक (यम) के समान अजेय, वृहस्पति के सदृश प्रखर बुद्धि सम्पन्न थे।....."

"आप स्वयं ही एक महान् विद्वान प्रतीत होते हैं, भद्रपुरुष !" साथ के पथिक ने कहा।

"आज कौन विद्वान नहीं है बन्धु ! किन्तु आप एक कलाकार हैं, संगीतज्ञ ! आपकी समानता में.....।"

"हाँ, तो इस पारस्परिक गुणगान को त्याग कर मुझे मूल कथावस्तु सुना दीजिये महद्जन ! आपकी कृपा होगी। देखिये ! आपसे मैंने पहले ही प्रकट किया था कि मुझे एक प्रहर रात्रि शेष रहते यहाँ से प्रस्थान कर देना है। अब मैं निश्चिन्त हूँ। अब मैं अपने मगध राज्य में हूँ..." प्रथम पथिक कहता गया।

"तो आप अब तक केवल रात्रि में ही यात्रा क्यों करते थे भगवन् ?"

"प्रत्येक रहस्य रहस्य ही रहने तक आकर्षक होता —बन्धु ! किन्तु मैं आपको बन्धु क्यों कहूँ। आप तो वृद्ध जन हैं, विद्वद्वर ?"

"होंगे। किन्तु अपना रहस्य रहस्य ही रहने तक आकर्षक होता है नवयुवक ! तब दूसरे का रहस्य जानने को इतने अधीर क्यों हो ?"

अब युवराज कुमारगुप्त एवं भद्रसेन ने भली प्रकार ज्ञात कर लिया

कि दोनों शयनार्थी पृथक्-पृथक् हैं और वे चुपचाप पड़े उनकी वार्ता सुनते रहे।

तभी एक पथिक ने प्रारम्भ किया—"श्रीमान् ! प्रथम तो वह एक इतिहास है, व्यतीत का प्रसंग। दूसरे वह आपका रहस्य नहीं है। आपके कथनानुसार एक सत्य-घटना है और चिर-विख्यात। तीसरे हम युवकों को इसी रूप में श्रुत-इतिहास ज्ञात होता रहता है। तभी वह लिपि-बद्ध होना सम्भावित होता है।"

"वह इतिहास क्यों है युवक ? वे तो मनोरंजक घटनायें हैं। वे अनेक रूप में लिपि-बद्ध हो चुकी हैं। आज के युग में महाकवि कालिदास ऐसे चाटुकार और शृंङ्गारी कवि ने उस प्रकार के वासनामय प्रसंगों को, वैसी रति-काम-लीलाओं को भी लिपि-बद्ध कर दिया है युवक ! तुम्हें तो उसमें आनन्द ही प्राप्त होता होगा·····।"

वक्ता के अतिरिक्त उस अन्धकार में उपस्थित तीनों तरुण सचेत किन्तु शान्त कर्ण-रन्ध्रों को अधिक कौतुक-वार्ता के हेतु तत्पर किये रहे। तभी युवक पथिक ने कहा गुरुजन ! मुझे वह ध्रुवस्वामिनी का कथांश सुना दीजिये। लगभग अर्द्धरात्रि हो रही है। वह तो कहिये हम लोग एक निद्रा भी ले चुके हैं।"

"देखा—देखा। नारी प्रसंग को सुनने की कितनी अधीरता है···हाँ नवागन्तुक महाशयों ! कुछ आप भी बोलिये। यह व्यक्ति तो मुझे इस पान्थशाला में जब से मिला है मेरा सर खा गया। जी ऊब गया है। कुछ आप ही वार्तालाप प्रारम्भ कीजिये। कुछ आपबीती सुनाइये। कुछ जगबीती कहिये·····।"

साथ का पथिक हँसता रहा। उसके स्वर अन्धकार में प्रकट हो रहे थे। वार्ता के उत्तर में भद्रसेन ने उत्तर दिया—"अब आप ही सब कुछ सुना दीजिये। हम भी कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।"

"तब आप दोनों भी स्त्री-सम्मोहन के दास है।"

"कौन नहीं है महानुभाव ? क्या आप नहीं हैं ? सृष्टि में कौन अपने को स्त्री-काया-माया से अछूता मानता है," भद्रसेन ने उत्तर दिया।

"बड़े तार्किक हो युवक ! क्या आयु है ?"

"उन्नीस वर्ष।"

"तभी वाचाल हो।·····और तुम्हारे साथी की।"

"पैंसठ वर्ष।"

"तब तुम्हारे साथी क्यों तुम्हारे पिता जी हैं, क्या ? क्षमा कीजियेगा महानुभाव ! आप तो मेरे भी अग्रज हैं। मैं तो अभी चौंसठ का ही हूँ·····," पथिक कहता गया।

"क्या आयु-गणना प्रारम्भ कर दी आपने भी ? मूल वार्ता आप बारम्बार भुला देते हैं," युवक पथिक ने व्यक्त किया।

"देखा—महानुभाव ! वही रामरट। अच्छा भाई अब कुछ नहीं बोलूँगा। बस एक ही कथा, एक ही गति, एक ही स्वास में कहता जाऊंगा।—कहता जाऊँगा। आप महानुभावों ने सुना होगा···नहीं, किन्तु तुम मेरे अग्रज ने अवश्य सुना होगा। सुना क्यों सामने देखा ही होगा। है न गुरुजन," वृद्ध पथिक कहता गया किन्तु प्रत्येक मौन बना रहा।

अपने श्रोताओं को दत्तचित्त जान कर पथिक ने प्रारम्भ किया—"मैंने अपने स्वर्गीय सम्राट् का स्मरण किया था न अभी। और एक हमारा आज का सम्राट् है—बड़ा भारी नाम है सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य—किन्तु उसके कर्म कितने दुष्ट हैं कितने निम्न·····देखिये आप महानुभाव एक बात और सुन लीजिये, मुझे यह चिन्ता नहीं है कि आप में से कोई गुप्तचर है। यह शृंगनाद तो मैं उस सम्राट् के सम्मुख भी कर सकता हूँ। मुझे वह रोकेगा कैसे ? उसमें साहस कहाँ है ?·····

"भद्रसेन ! नीति कहती है कि यदि पिता और गुरु या किसी के भी

सम्बन्ध में अपशब्द कहे जावें तो उन्हें नहीं सुनना चाहिए। पिता जी के प्रति ऐसे कटु वचन ! मैं इस बुड्ढे के अभी खण्ड-खण्ड करता हूँ···," युवराज ने मन्द स्वर में कहा किन्तु भद्रसेन को प्रतीत हुआ कि कुमारगुप्त निश्चयेन उग्र हो रहा है।

तभी उसने धीमे से कहा—"इससे लाभ ? तब वार्ता सुनने की अभिलाषा क्यों की ? क्या माता के प्रति दुर्वचन सुन सकते हो। सुनना चाहते थे।"

"कदापि नहीं।"

"तब तत्काल आदेश दो कि दोनों पथिक पान्थशाला के बाहर कर दिये जावें। तब मैं अभी जाता हूँ। वे ग्रामवासी टकटकी बाँधे बाहर बैठे हैं और वे तुम्हारे मुखिया जी भी। अभी वह स्वर्ण-पर्यङ्क, स्वर्ण-चौकी, स्वर्ण-जल-पात्र, कलश, मयूर पंख, सब कुछ समक्ष उपस्थित किये जाते हैं·····"

"अवश्य भद्रसेन !"

"तब वह भावुकता कैसी थी—श्रीमान् ! पथिकों के साथ भूमि पर लेटकर वार्ता सुख लेंगे," भद्रसेन ने कहा।

"तुम और ये पथिक मूर्ख है," उच्च स्वर में प्रकट करते हुए युवराज कुमारगुप्त उग्रतापूर्वक उठ कर बैठ गया।

भद्रसेन सोच रहा था—आवेश में युवराज परिस्थिति बिगाड़ देगा। वह वृद्ध जो कुछ कहेगा उसे कोई भी नहीं सुन पावेगा। तभी उसने कर-स्पर्श से युवराज को शान्त करने की चेष्टा की किन्तु उन शब्दों का ध्यान कर, जो उसके पिता के प्रति कहे गये थे, वह उग्रतम हो रहा था—"पथिकों !"

तीक्ष्ण स्वर फूटा और उसने पान्थशाला को हुला दिया।

"भद्रसेन ! इन दोनों पथिकों को पान्थशाला के बाहर कर दो," युवराज ने आदेश दिया।

भद्रसेन तत्परतापूर्वक उठ खड़ा हुआ। चाहे जितना मैत्री-भाव हो। प्रत्येक अवसर एक से नहीं होते हैं। कहीं शासक-शासक भी होता है। ऐसे में उसकी वैसी प्रतिष्ठा की रक्षा ही सख्यभाव का सन्तोष होता है। अन्यथा शासक का उग्र तथा उद्धत स्वभाव···भद्रसेन उसी तत्परता में आज्ञा पालक सा समक्ष उपस्थित हो गया।

"नहीं भद्रसेन! ये पथिक हैं। ये इस पान्थशाला में पहले से हैं। इन्हें यहीं रहने दो। हम यहाँ से चलते हैं," कहते हुए युवराज उठ खड़ा हुआ।

दोनों पथिक हतप्रभ से अपने बिछावन पर बैठ गये। एक पल में वृद्ध पथिक सोच गया—"आज फँस गया। कोई राज्याधिकारी प्रतीत होता है।"

दूसरा पथिक चित्रवत् मौन बैठा रहा।

"नहीं भद्रसेन! ऐसे प्रजा-जन राज्य के लिए अहितकर होते हैं। बन्दी कर लो उस वृद्ध पथिक को!"

पथिक काँप गया।

एक पल को उस निविड़ अन्धकार में निस्तब्धता व्याप्त हो गयी। भद्रसेन स्थिर न हो पा रहा था कि क्या करे। न ही, यह सोच पा रहा था कि युवराज को कैसे शान्त करे। तभी उस वृद्ध पथिक में वृद्ध का आत्मबल जागृत हुआ और वह सोच गया—होगा क्या? मैं मिथ्या नहीं कह रहा था। वह तो जगविदित कथा है। यह होगा कौन? अधिक से अधिक कोई उपरिक होगा या कोई अन्य राज्याधिकारी? अधिक विवाद बढ़ा तो मैं स्पष्टतः कह ही दूँगा। आज के युवक नहीं जानते हैं। वैसे तो उस कथा को कौन नहीं जानता और उसी आधार पर वृद्ध ने प्रारम्भ किया—"कीजिये, मुझे बन्दी। मैं कोई राजद्रोह नहीं कर रहा हूं। कोई देशद्रोह नहीं कर रहा हूँ।·····मैंने महाराज के शासन के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। मैंने सम्राट् चन्द्रगुप्त की दिग्विजय की कोई टीका-टिप्पणी नहीं की। मैं उनके वैयक्तिक जीवन की·····उनके चारित्रिक ·····।"

"वृद्ध ! बन्द करो यह अनर्गल प्रलाप। किसी के वैयक्तिक जीवन से तुम्हें क्या प्रयोजन। सम्राट् के चारित्रिक दोष प्रकट करने वाले तुम कौन हो ? तुम जानते हो तुम्हारे इस दुःसाहस का क्या परिणाम हो सकता है ? तुम जानते हो कि तुम किसके समक्ष बोल रहे हो," इस समय भद्रसेन ने तीक्ष्णता पूर्वक कहा।

"देख मूर्ख ! क्या परिस्थिति उत्पन्न कर दी," वृद्ध अपने साथी पथिक पर बिगड़ उठा।

"भद्रसेन ! प्रकाश प्रस्तुत करो," युवराज ने व्यक्त किया और अपना पग बिछावन के बाहर टेक दिया।

पल भर में सर्वत्र व्यस्तता का वातावरण प्रकट हो गया। युवराज कुमारगुप्त ने उस रात्रि में ही उस पान्थशाला से प्रस्थान कर दिया।

× × × ×

"गये, जाने दो। युवक ! अब तक चाहे मैं नहीं भी कहता किन्तु अब मैं तुम्हें वह सब वृत्तान्त अभी सुनाता हूँ," कहते हुए वृद्ध ने पुनः बिछावन पर लेट कर शान्ति की सांस ली और एक निःश्वास फेंक कर सोच गया—'ओह ! यदि वे मुझे बन्दी बना लेते तब क्या होता ? ··· तब मेरी पुत्री का पाणिग्रहण कैसे होता ? तब मेरे साथ के ये सब वस्त्राभूषण कब काम आते ? इस युग में चोरों का भय नहीं, दस्युओं का त्रास नहीं तभी तो इतना धन मैं साथ लिये चल रहा हूँ किन्तु यह भय तो मेरे अपने लिये उत्पन्न हो गया। आपद्काल प्रकट होते पल नहीं लगता किन्तु मेरा कोई बिगाड़ क्या सकता है ? किन्तु यह वृद्धावस्था भी अव्यावहारिक हो जाती है। चाहे जितना प्रयत्न करो, कम बोला ही नहीं जाता। बिना बोले जी नहीं मानता। किन्तु, हः ! बात भी न कही जाय। राज्यकुल की इतनी बड़ी घटना भुला दी जावे। तब नैतिकता का आधार ही क्या रहेगा'·····तब सोचते-सोचते वृद्ध ने प्रकट में प्रारम्भ कर दिया—"क्या डर गये युवक ? या सो गये ? ·····मैं तो डरा

नहीं। मैं डरता क्यों? न्यायालय के समक्ष भी कह देता। यदि स्वयं चन्द्रगुप्त ही न्यायासन पर बैठता तो उसकी कथा उसी को सुनाता और कहता—'अपने लिये तुम निर्णय नहीं कर सकते।'

"किन्तु गुरुजन! यह प्रसंग अब समाप्त कर दो। यह अप्रिय है। मुझे इससे बड़ा कष्ट हुआ है। भली प्रकार लेटे हुए थे, व्यर्थ ही वे अधिकारी चले गये। अपने सम्राट् के प्रति वे कटु वचन सुन न सके। मुझे भी नहीं सुनना चाहिये।"

"क्यों नहीं सुनना चाहिये? सत्य से पलायन क्यों? डरते हो? सुनो·····सुन लेना तब स्वयं निर्णय करना।

"हाँ, तो हमारे स्वर्गीय सम्राट् के अनन्तर वर्तमान सम्राट् चन्द्रगुप्त के बड़े भाई रामगुप्त को मगध की राज्य-सत्ता प्राप्त हुई थी। आज का यह सत्ताधिकारी चन्द्रगुप्त उसकी हत्या कर सत्तारूढ़ हुआ है·····।"

युवक पथिक का कौतूहल जागृत हुआ और उसने प्रश्न किया—"कैसे?"

"क्यों, क्या इतना भी नहीं जानते? किन्तु तुम तो कह रहे थे तुम मागध नागरिक हो। तुमने कहा था तुम केवल ध्रुवस्वामिनी—चन्द्रगुप्त प्रसंग को नहीं जानते हो किन्तु तुम कैसे मागध हो जो यह नहीं जानते कि इस राज्य-सिंहासन पर ज्येष्ठ भ्राता का हत्यारा भी बैठ सकता है—बैठा है।"

"मैं साकेत का प्रवासी हूँ। बाल्यकाल से ही देशाटन एवं विद्याध्ययनार्थ विदेशों में घूमता रहा हूँ। मुझे कुछ ज्ञात नहीं है।"

"कभी तुम्हारे इसी साकेत पर शकराज सिंहसेन ने आक्रमण किया था। सम्भवतः तब तुम्हारा जन्म भी न हुआ हो। तो शक्तिशाली शकराज ने मगध की सामरिक शक्ति को दाब लिया। उस समय रामगुप्त ही मगध का शासक था। युद्धबल व छल के आधार पर शकराज सिंहसेन ने रामगुप्त को एक पर्वतीय-स्थान में घेर लिया। रामगुप्त की स्थिति चिन्त्य हो गई। तब चन्द्रगुप्त तरुण ही था।"

"तब कैसे मुक्ति हुई रामगुप्त की ! क्या उसी समय चन्द्रगुप्त ने अपने भाई की हत्या कर दी ?"

"तुम भी बुद्धिहीन हो युवक ! उस समय हत्या से क्या लाभ होता ? क्या देश शत्रु के आधीन करा देता—चन्द्रगुप्त ? क्या वह इतना मूर्ख था ? मूर्ख ! नहीं वह बड़ा चतुर था—बहुत चतुर। हत्या की जाती है किसी स्वार्थ, किसी लाभ को लेकर। उस विपत्तिकाल में तो चन्द्रगुप्त ने अद्भुत कार्य किया।

"तो शकराज से घिर जाने पर निरीह रामगुप्त को शत्रु से सन्धि करने को विवश होना पड़ा। सन्धि के प्रस्ताव सुनिये। शकराज ने प्रस्ताव भेजा कि रामगुप्त को अपनी परम रूपवती यौवना सम्राज्ञी ध्रुवस्वामिनी को शकराज के समक्ष प्रस्तुत करना पड़ेगा और युवक आश्चर्य मत करना ; उस यशस्वी मगध के स्त्रैण शासक रामगुप्त ने शत्रु के उस प्रस्ताव को मान लिया।"

"यह सत्य है, क्या ? यह इसी भारतवर्ष में हुआ ? यह मगध में····· ?"

"हाँ-हाँ, उस साकेत पर कलंक लगाने के हेतु इसी मगध में ऐसे हीन शासक भी हो गये हैं युवक !"

"तब हुआ क्या श्रद्धेय !"

"यह कि वह नहीं हो पाया जो शकराज चाहता था।"

"वह कैसे ?"

"उसको चन्द्रगुप्त ने बचाया।"

"तब फिर आप उसकी इतनी कटु आलोचना क्यों करते हैं ?"

"किसी व्यक्ति में सब गुण ही गुण नहीं होते हैं।"

"और किसी व्यक्ति में सब दोष ही दोष भी नहीं होते हैं।"

"किन्तु एक महान् दोष सहस्र गुण समाप्त कर देता है। तब चर्चा गुणों की नहीं दोष की ही होती है।"

"तब ध्रुवस्वामिनी कैसे बची ?"

२०

"प्रभात हो गया।

पान्थशाला के बाहर ग्राम-मार्गों में सर्वत्र चर्चा थी—विगत रात्रि मगध युवराज पान्थशाला में पधारे थे।

"युवक ! तुम तो प्रभातकाल में प्रस्थान करने वाले थे।"

"हाँ, श्रद्धेय किन्तु आपने वह कथांश पूर्ण ही नहीं किया कि उस शकराज से मगध सम्राज्ञी ध्रुवस्वामिनी का बचाव कैसे हुआ ?"

"इसी कारण रुक गये ?"

"हाँ, आपसे उपयुक्त व्यक्ति मुझे कौन मिलेगा जो मुझे वह सब बतावे। फिर—मैं निरुद्देश्य हूँ। कहाँ जाऊँ—किधर जाऊँ ? संसार में मेरा कोई भी तो नहीं। साकेत में मेरे पिता ही कुटुम्ब में शेष थे। उनकी मृत्यु-सूचना भी मुझे पर्यटन में ही प्राप्त हो चुकी है।"

"अविवाहित हो ?"

"कैसा अप्रासंगिक प्रश्न है गुरुजन ?"

"तब संसार से विरक्त हो ?"

"अब नहीं तो हो जाऊँगा।"

"प्रेमी हो ?"

"अनुमानतः वह इतना सरल तो नहीं है।"

"तब विरही हो ?"

"वह बिरलों के ही वश का है !"

"तुम उनमें नहीं हो—नहीं हो सकते ?"

"मुझे स्वयं ज्ञान नहीं है ? किन्तु इतना जानता हूँ कि इस संसार सागर में मत्स्य-विन्दु सम आधारित हूँ। निरुद्देश्य चक्कर काट रहा हूँ। न गन्तव्य स्थिर है न अस्थिरता ही स्थिर रह पाती है।"

"तुम युवक होकर इतने हताश·····इतने अवश ? तब अनुभवशून्य हो। क्या कुछ जानते हो ? संगीत के अतिरिक्त कुछ नहीं जानते ?"

"कुछ नहीं।"

"तब यह युवावस्था यों ही व्यर्थ व्यतीत कर रहे हो ? कुछ तो जानते होगे ?"

"कुछ नहीं। सब अपूर्ण। जो कुछ जानता हूँ वह भी अपूर्ण··· ।"

"तब निरर्थक व्यक्ति हो। जानते हो या कुछ न जानते हो—संघर्ष करो। सब कुछ; बहुत कुछ जान जाओगे।"

"श्रद्धेय ! आप क्या करते हैं ?"

"एक विद्यालय में नीति-शास्त्र का प्राध्यापक हूँ।"

"तब तो आप मुझे अपने साथ रख सकते हैं।"

"किस हेतु ? विद्यालय-उद्यान में दूर्वा-चरन के हेतु ?"

"चलिये वही कर लूँगा।"

"मैं भाई ऐसा झंझट नहीं पालता हूँ। मैंने जीवन भर किसी से मित्रता ही नहीं की। सब कष्ट सह्य हैं किन्तु मैत्री-कष्ट·····उसे भुक्त-भोगी ही जानता है। मित्र को सुख-दुःख में, कभी चैन नहीं मिलता।"

"आपकी मेरी मैत्री कैसी ? मैं तो आपकी चरण-सेवा करूँगा।"

"तुम्हारे सदृश मोहक-युवक-व्यक्तित्व, ये कलाकारों के सदृश हस्त-संचालन, भ्रू भृङ्गों का यह त्वरन, यह नेत्र-आमन्त्रण·····तुम्हें अब तक किसी तरुणी का साहचर्य प्राप्त नहीं हुआ युवक ?"

"तब ध्रुव-स्वामिनी कैसे बची ?" बात टालते हुए युवक ने प्रश्न किया।

"वह तो बची नहीं। उससे अधिक जटिल पाश में आबद्ध हो गई।"

"वह कैसे श्रद्धेय !"

"ऐसे कि पहले तुम प्रकट करो कि तुम केवल रात्रि-गमन ही क्यों करते रहे अब तक ?"

"इस हेतु कि मेरे सदृश मोहक-युवक-व्यक्तित्व, ये कलाकारों के सदृश हस्त-सचालन, भ्रू भृङ्गों का यह त्वरन, यह नेत्र आमन्त्रण·····अब तक किसी तरुणी का साहचर्य·····दिवस के नहीं निशा के उपकरण हैं, श्रद्धेय !"

"तब तुम गूढ़ हो युवक !"

"सम्भव है किन्तु श्रद्धेय ! आपको ज्ञात हुआ कि रात्रि में हमारे निकट कौन आकर लौट गया और हमें जीवित छोड़ गया ?"

"कौन ?"

"वही आपके नीच सम्राट् चन्द्रगुप्त का पुत्र युवराज कुमारगुप्त।"

वृद्ध पथिक के विस्फरित नेत्र ज्यों संज्ञाहीन होते गये। कंपन में ज्यों उसकी हृद्गति अवरुद्ध होती प्रतीत हुई।

"और मैंने उसके समक्ष ही उसके पिता को—मगध के सम्राट् को अपशब्द कहे और मैं जीवित हूँ·····," वृद्ध पथिक ने जैसे अपने जीवन पर ही विस्मय प्रकट करते हुए व्यक्त किया।

"ग्रामवासी तो यही कह रहे हैं।"

"देखा। आज तुम्हारे कारण मेरा जीवन विनष्ट होते-होते बच गया। ·····और तुम कहते हो मैं तुम्हें साथ ले जाऊँ। क्या विगत अथवा इस जीवन में मैंने तुम्हारा कोई अपकार किया था युवक ?"

वृद्ध पथिक की यह भोली बातें सुन कर युवक पथिक को हँसी आ गई।

"हँसते हो ?"

"मैं पूछता हूँ—श्रद्धेय ! सम्राट् को उस प्रकार अपशब्द कहने की आवश्यकता ही क्या थी ? व्यक्ति अपने ही दोषों के आधार पर ही तो दण्ड भोगता है।"

"युवक ! मुझे तुम्हारे उपदेश की आवश्यकता नहीं है। मैं मृत्यु के अनन्तर भी कहूँगा कि चन्द्रगुप्त अपराधी है।"

"आप कह सकते हैं," कहते हुए युवक पथिक पुनः मुस्करा दिया।

इस बार वृद्ध पथिक को हँसी आ गई।

"युवक ! तुम सरस व्यक्ति प्रतीत होते हो। मेरा एक कार्य कर सकते हो ?"

"आज्ञा करें श्रद्धेय !"

"मुझे एक भार से मुक्त कर सकते हो ?"

"आप प्रकट करें।"

"मैं अपनी पुत्री के भार से मुक्त होना चाहता हूँ।"

"तब उसमें मैं क्या कर सकता हूँ, श्रद्धेय !"

"जो कुछ भी सहायता कर सको।"

"आप जो आज्ञा करें।"

"देखो ! इन पोटलियों में अतोल स्वर्ण-मुद्रायें भरी हैं·····और इनमें रेशम-ही-रेशम। उसके पाणि-ग्रहण के लिए लाया हूँ।"

"तब आपको दुःख क्या है ?"

"किन्तु पाणि-ग्रहण के हेतु भी तो कोई प्रस्तुत हो।"

युवक का व्यथित हृदय हठात् मुस्कराने को विवश हो रहा था। पाणि-ग्रहण तो किसी कन्या का होता है। किसी नवयौवना का····· यह ध्यान कर ज्यों युवक में एक रोमांच, एक वैवश्य, एक निराशा फिर आई। वह मौन हो गया।

"तुम्हारा क्या वर्ण है युवक ?"

"गौर।"

"ऐंह। यह तो मैं भी देख रहा हूँ। किन्तु यह आर्य जाति की विशेषता है कि उसमें शूद्र भी गौर वर्ण होते हैं किन्तु तुम तो कोई कुलीन, उच्च वर्ण के दीख रहे हो।"

"क्या शूद्र कुलीन नहीं होते ?"

"जैसे कि तुम।"

"हाँ, जैसा कि मैं।"

"किन्तु मुझे तुम ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय दिख रहे हो।"

"मैं वैश्य हूँ श्रद्धेय !"

"धत्ते रे की ! यह भी वैश्य निकला।"

"तब आपको ब्राह्मण-क्षत्रिय चाहिये।"

"हाँ।"

"ब्राह्मण-क्षत्रिय का मिश्रण—कौन हो सकता है ?"—युवक धीमे स्वर में बुदबुदाया किन्तु वृद्ध ने वह सुन लिया।

"मेरा उपहास ?"

"वह भी श्रद्धेय कह कर। ऐसा कभी नहीं हो सकता श्रद्धेय।"

"तब ?"

"मैं क्या करूँ ?"

"यही कि तुम कोई भी हो—प्रियदर्शी हो।"

"तब आज्ञा करें।"

"तुम मेरे प्रवास चलो।"

"किस हेतु ?"

"अभी तो तुम कह रहे थे।"

"किन्तु अब नहीं जाऊँगा।"

"क्यों ?"

"यों ही।"

"मेरी पुत्री को देख लोगे तो किसी राजकुमारी को भूल जाओगे।"

"तभी तो और नहीं जाऊँगा।"

"मेरा आग्रह तुम टाल नहीं सकते। तुम्हें चलना होगा। मैं साधिकार कह रहा हूँ।"

× × ×

निश्चित ही युवक किसी राजकुमारी को तो न भूल सका किन्तु उस ब्राह्मण-कुमारी को भी जीवन में वह कभी विस्मृत न कर सकेगा—यह ध्यान कर पथिक अपने नव-परिचित वृद्ध पथिक से विदा लेकर चलने लगा।

"तब तुमने वचन दिया है कि पुनः आओगे। मैं तीन मास की अवधि तक तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा।"

"कीजियेगा, श्रद्धेय !"

२१

पथिक ध्यान करता गया—"तब कैसे राजकुमार चन्द्रगुप्त ने स्त्री के छद्मवेश में शत्रु के स्कंधावार में प्रवेश किया होगा। कैसे स्त्री-छद्मवेश धारी सैनिकों का समूह उसके साथ गया होगा और कैसे चन्द्रगुप्त ने उस कामातुर शकराज सिंहसेन का वध किया होगा ? कैसे उसने तब अपने भाई की मर्यादा रक्खी ? कैसे मगध की प्रतिष्ठा की रक्षा की ? और तब ध्रुवस्वामिनी की ऐसे कायर-कलंकी पति के प्रति घृणा सर्वथा न्यायोचित थी। ध्रुवस्वामिनी को, तदनन्तर, रामगुप्त एक पल को भी न भाया होगा। जैसा प्राध्यापक महोदय व्यक्त कर रहे थे—पहले भी ध्रुवस्वामिनी का परिणय रामगुप्त के साथ उसकी इच्छा के विपरीत ही किया गया था। तब ध्रुवस्वामिनी ने रामगुप्त का तिरस्कार कर अपने नारीत्व की रक्षा की। अपनी मर्यादा की पुष्टि की।

किन्तु ऐसे सुकर्म के अनन्तर उस वीर चन्द्रगुप्त के द्वारा ही अपने भाई का वध। कैसा विषम प्रसंग है ! तब निश्चित ही पति के प्रति घृणा का आरोपण चन्द्रगुप्त की श्रेय-सराहना में परिवर्तित हुआ होगा। तब निश्चित ही परम रूपवती ध्रुवस्वामिनी की अनुराग-भावना वीर चन्द्रगुप्त की ओर आकृष्ट हुई होगी।

श्रेष्ठतम चयन में ही अनुराग का आश्रय अवलम्बित होता है। वह एक मापदण्ड है जिसमें एक ओर समग्र जगत और एक ओर केवल

'एक' होता है। वह वैसा ही कुछ हुआ होगा। जीवन की इतनी बड़ी घटना हो जाने के अनन्तर तब ध्रुवस्वामिनी ने रामगुप्त से कोई समझौता नहीं किया होगा। तब वह घृणा·····घृणा क्यों अपने को दूर कर लेने की भावना अधिकाधिक जटिल होकर समक्ष प्रकट हुयी होगी। तब जैसा श्रद्धेय का कथन का—"रामगुप्त के प्रकट-परोक्ष में ही प्रणय का सूत्रपात हुआ। वह सर्वथा प्रकृतिजन्य था। वह सर्वथा परिस्थिति जन्य था। वह रामगुप्त की भीरुता का उचित निराकरण था। वह रामगुप्त की अयोग्यता का उचित पुरस्कार था·····

किन्तु नैतिकता की कसौटी तो प्रकृति और स्वभाव से भिन्न प्रयोग की अपेक्षा जो करती है। नीति के चीत्कार में पिसन का जो आनन्द निहित है। व्यवहार में जो प्रदर्शन का वैभव द्रष्टव्य है।

उस समय रामगुप्त ने अधिकार का लौह-दण्ड हस्तगत किया होगा। तब ध्रुवस्वामिनी ने तिरस्कार सहित उसका विरोध जो किया होगा। तब वह लौह-दण्ड उस नारी की संकल्प-दृढ़ता के समक्ष विदीर्ण हो गया होगा। वैसा अवश्य हुआ होगा। श्रद्धेय के कथनानुसार वैसा ही हुआ। नारी के अधिकार की कामना में रामगुप्त अपने अस्तित्व की हीनता को भूलता चला गया। नारी ने अपने अधिकार-क्षेत्र की गरिमा में उस कांपते सम्बल को टूक-टूक कर दिया।

किन्तु सम्बल की स्वाभाविक आकांक्षा में नारी को रामगुप्त के प्रचलित सम्बल की नहीं चन्द्रगुप्त के सुदृढ़ सम्बल की आवश्यकता थी। ध्रुवस्वामिनी ने रामगुप्त का जीर्ण-शीर्ण अधिकार-प्रासाद ध्वंस कर दिया।

उपयुक्त-अनुपयुक्त, नैतिक-अनैतिक; व्यवहार्य-अव्यवहार्य शुभाशुभ क्या था—इस तर्क में समय-शक्ति का अपव्यय न कर तथा दया-माया-मोह-ममता त्याग कर ध्रुवस्वामिनी ने अपने प्रेम पर श्रेय आधारित कर दिया। प्रेम ने उसके आह्वान को स्वीकार किया।

तब इतनी भयंकर संघटनाओं के मध्य वही हुआ—अपने अभीष्ट की प्राप्ति। अपने स्नेह पात्र की प्राप्ति। अपने स्व की प्राप्ति। अपने सन्तोष की प्राप्ति। सत् स्वरूप परमेश्वर पर लक्षित कर चित् एवं आनन्द की भौतिक प्राप्ति। वही जो भौतिक प्राणी को संभाव्य है।'

इससे अधिक भी बहुत कुछ विचारता हुआ पथिक निरुद्देश्य—अनिर्दिष्ट की ओर बढ़ता चला जा रहा था। तब वह आगे ध्यान करता रहा—'किन्तु ऐसे वीर-पुरुष ने ऐसा जघन्य कार्य क्यों किया? उसने अपने भ्राता का वध क्यों किया?·····क्यों किया उसने ऐसा? यह कलुष उसके जीवन में कभी धुल नहीं सकता। किन्तु तब वह करता क्या? वस्तुस्थिति के आधार पर गोपनीय-प्रणय की चेतना में तब वह अपने वातावरण के प्रति, समष्टि के प्रति, समग्रता के प्रति विश्वास-घात करता चला जाता। मिथ्याचरणों में तब वे दो प्रेम-श्रेय—ध्रुव-स्वामिनी तथा चन्द्रगुप्त लिप्त होते चले जाते। तब पल-पल पर छल-छद्म द्वारा वे संसार भर को मूर्ख बनाने की सफल-विफल चेष्टायें करते रहते। किन्तु तब वे क्या करते? अपने को अपने आप से विश्वास का विनाश करते चले जाते।'

'तब वह वध-मनुष्य का नहीं था। मनुष्य से परे किसी ऐसे मनुष्य द्वारा था जो अधिकार पूर्वक एक नहीं सहस्रानुसहस्र प्राणियों का वध करा डालता है। अपने हाथ से कर डालता है। वे कुछ कारण हैं, मान्यता के आधार पर कुछ नक्षत्र हैं अथवा कोई अदृश्य विशेषतायें हैं जो मनुष्येतर हैं। जो शासक को—सम्राट् को प्राप्त हैं। और उसी रूप में सब नीति-रीति—लोक-व्यवहार, मानवता, दया-माया-मोह छोड़ कर जब उपरि राजनीति कार्यशील होती है। उस कर्तव्य में जब अधिकार प्राप्ति, राज्य-प्राप्ति, सम्राट्-पद प्राप्ति के हेतु हत्यायें तृणवत् प्रतीत होती हैं।

'उसी को स्वार्थ कहिये—प्राप्ति की मान्यता में चन्द्रगुप्त ने मगध की

सत्ता भी प्राप्त की और स्नेह पात्र भी ।

'यदि चन्द्रगुप्त के स्थान पर रामगुप्त होता और रामगुप्त के स्थान पर चन्द्रगुप्त तो रामगुप्त भी वही करता । तब अपराधी ?

'जो सबल था ।

'सब नीतियें, रीतियें, कुल, मर्यादा, व्यवहार, सुख, समृद्धि, आनंद-शक्ति की मान्यता पर आधारित हैं । संसार में शक्ति जीवन है । शक्ति बिना श्वास का सिंचन भी सम्भव नहीं ।

पथिक, विचारमग्न चलता चला जा रहा था ।

२२

"क्या है वीरसेन ?"

"सम्राट् ! उज्जयिनी से एक राज-संदेश-वाहक आया है।"

"किस हेतु ? क्या महाकवि उज्जयिनी पहुँच गये ?"

"हाँ महाराज ! महाकवि कालिदास का एक पत्र है," कहते हुये मगध के महा-सन्धि-विग्रहीक वीरसेन ने पत्र सम्राट् चन्द्रगुप्त की ओर बढ़ा दिया।

मगधाधिपति ने पत्र पढ़ा :

मगधपति, परम तेजवान्, यशस्वी, दिग्विजयी, विक्रमाङ्क सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य—के चरण-कमलों में वन्दना सहित :

महाराज ! पाटलिपुत्र से प्रस्थान कर काशी, प्रयाग, उदयगिरि आदि लगभग ग्यारह रमणीक स्थलों एवं प्रसिद्ध स्थानों के दर्शन करते हुये उज्जयिनी सदृश अलकापुरी में प्रवासी हो रहा हूँ।

वह कैसी शुभ बेला थी जब मैंने उज्जयिनी के समान अपने युग की वैभवशालिनी नगरी की कमनीय भूमि पर प्रथम-पग-निक्षेप किया था। तभी समक्ष उज्जयिनी की गौरांगनाओं का एक वृत्त किसी वन-कानन से निकल कर नगर की ओर प्रस्थान कर रहा था। प्रतीत हुआ स्वर्ग की अलभ्य रूपायें वायु में प्रमाद भरती, मग में यौवन-मधु-वर्षा

करती, नगर चत्वरों की ओर प्रयाण करती चली जा रही हैं। लगा शुभ मुहूर्त हुआ।

और तब यह भव्य उज्जयिनी यहाँ के भव्य राजप्रासाद, नगर-श्रेष्ठियों के भवन, यहाँ का व्यापार-वाणिज्य, रत्न-विक्रेताओं के यहाँ संचित हीरक-मुक्ता मणियों के अटूट भाण्डार, स्वर्ण-रजत के शिला के शिला; यहाँ के वन, कानन, तड़ाग; यहाँ देव प्रतिमा-धारी से भव्य नागरिक, सुन्दर-स्वस्थ-मधु-भाषिणी यहाँ की कामातुर रमणियाँ,····· भिन्न-विचित्र लावण्य है यहाँ की रूपसियों का महाराज !

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां,
सौधोत्सङ्ग प्रणय विमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्यः।
विद्युद्दाम स्फुरित चकितैस्तत्र पेराङ्गनानां,
लोलायाङ्क्षर्यपि न रमसे लोचनैर्वञ्चितो ऽसि।

प्रत्येक लावण्यमयी के दिव्य दर्शन कर प्रतीत होता है वह कल-हासिनी, वह तन्वङ्गी, वह मीनाक्षी·····वह,—वह काम से उत्पीड़ित है, प्रणय-आमन्त्रणों में उन्मुक्त है, रति-रम्भा सी-उत्फुल्ल में नयनाभि-राम भ्रूकटाक्षों द्वारा हठात् ही अनंग के सत्कार को आतुर है; नर में विलीनता खोज कर खो जाना चाहती है।

एवं उज्जयिनी के नागरिक—सक्षात् कामदेव—रत्नमेखलायें झलकाते, उन्नत ललाट द्वारा वैभव-विलास उमगाते, पल-पल रमणियों के लावण्य में ओत-प्रोत, इतने पर भी सम्पूर्ण दिवस व्यापार-वाणिज्य द्वारा मुद्राओं के अम्बार लगाते रहते हैं।

मगधाधिपति ! भारत में यह नगरी अद्वितीय है। तुलना में पाटलि-पुत्र से यह न्यून नहीं है। यों उज्जयिनी का वेश पाटलिपुत्र से अधिक सुन्दर है। यहाँ के वासियों को रत्नाभरणों के पहनने का अधिक चाव प्रतीत होता हैं। इनके वेश साकेत अथवा पाटलिपुत्र वासियों से अधिक

गहरे रंग के होते हैं। उज्जयिनी नागरियों के रक्त-पीत-नील उत्तरीय राजमार्गों में सप्त-धनुषी से प्रतीत होते हैं।

सर्वाधिक मगध सम्राट्! आपके निर्देशानुसार मैंने उज्जयिनी को राजधानी बनाने की दृष्टि से भी देखा है। इसका मनन किया है। देव! यह उस कार्य के हेतु सर्वदा उपयुक्त है।

यहाँ के नागरिक इस प्रसंग से अत्यधिक हर्षित हैं कि उन्हें एक महत् राज्य-सत्ता की केन्द्रस्थली होने का सौभाग्य प्राप्त होने को है। उसकी इन्हें कितनी उत्कण्ठा है।

यहां के नागरिकों ने मेरा अत्यधिक सत्कार किया है। वे फूले नहीं समाते हैं। वे सब आपको आमन्त्रित कर रहे हैं। उज्जयिनी नागरिकों का यह महान् अनुरोध है कि मैं आपसे करबद्ध प्रार्थना करूँ कि आप इस स्थान को अपनी चरण रज से पवित्र करें। पत्र लिखते समय अधिक संख्या में उज्जयिनी के विशिष्ट जन मेरे निकट एकत्र हैं। वे कितने प्रफुल्लित हैं कि उनके ऊपर से शकों का असह्य भार उतर गया है।

विशेष, उज्जयिनी महाविद्यालय के कुलपति ने महाराज के स्वागत का विशेष आयोजन किया है। उज्जयिनी विश्वविद्यालय के न्याय दर्शन, धर्म, विज्ञान संस्कृति के उच्च शिक्षार्थी अपने युग के महान् सांस्कृतिक, काव्य-कलाधर, साहित्य सृजेता, प्रणेता, साहित्यकारों के प्राण अपने हृदय-सम्राट् महाराज चन्द्रगुप्त के दर्शनों को लालायित है।

मगध सत्ता द्वारा नियुक्त उज्जयिनी के उपरिक अपनी बुद्धि कौशल से सर्वप्रिय एवं सुचारु राज्य-कार्य-संचालक कर रहे हैं।

अन्ततः दयापूर्वक यह सूचित करें कि सम्राट् कब उज्जयिनी पधार रहे हैं।

सम्राट के श्री चरणों में वन्दना सहित

कालिदास

मगधपति सम्राट् चन्द्रगुप्त ने महाकवि का पत्र आद्योपान्त पढ़ा। पढते-पढ़ते कहीं वे मुस्कराये। कहीं उनके अन्तर्मन में पुलक संचार हुआ। कहीं वे गम्भीर हो गये और तब पत्र को समाप्त करते-करते उन्होंने अपनी दृष्टि मन्त्री वीरसेन पर केन्द्रित की। तभी पत्र वीरसेन की ओर बढ़ाते हुए सम्राट् ने कहा—"वीरसेन ! महाकवि उज्जयिनी को राजधानी बना कर ही मानेंगे।.....उनका उज्जयिनी विश्वविद्यालय का मान पत्र निरर्थक तो नहीं होना चाहिये। .....कहते-कहते मगधपति चन्द्रगुप्त खिलखिला कर हँस दिये। तब पुनः एक पल सुस्थिर होकर वे बोले—"वीरसेन ! संदेश वाहक को पत्र का उत्तर दे दो। मेरी ओर से लिख दो कि तत्काल मेरा उज्जयिनी पहुचना सर्वथा असम्भव है। युवराज कुमार दक्षिण की ओर गया है। वह स्वयं ही महा कवि से भेंट करेगा। प्राथमिकता प्रभावती के लग्न-निश्चय के कार्य को देनी है। औपचारिक कार्य तो सदैव होते रहेंगे। वे महाकवि ठहरे। भावुकता में उज्जयिनी को कल्पना लोक की स्वर्ग-पुरी बना देना अधिक समय, अथवा श्रम का कार्य नहीं है किन्तु मगध साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र के स्थान पर उज्जयिनी चुनना एक ऐतिहासिक महत्व का कार्य है—महा महा कार्य है। .....वह विचारणीय है। मेरी ओर से उज्जयिनी के नागरिकों को उनके स्नेह के प्रत्युत्तर में धन्यवाद प्रेषित कर दो वीरसेन ! युवराज का कार्य-क्रम भी पुनर्वार स्मरण दिला देना जिससे महाकवि उज्जयिनी के लालित्य में ही लीन न हो जावें और वे कुमार के रुद्रसेन से मिलने के पूर्व ही उसे मिल लें।

× × +

वाकाटक नरेश रुद्रसेन ने मगध युवराज कुमारगुप्त एवं महाकवि कालिदास का भव्य स्वागत किया। बरार प्रदेश में जब यह चर्चा प्रसारित हुई कि निकट भविष्य में ही बरार एवं मगध में परस्पर वैवाहिक-सम्बन्ध स्थापित होने वाले हैं तथा मगध राजकुमारी उनकी

सम्राज्ञी होने को है तो बरार के जन-जन में उत्साह—आनन्द की हिलोरें घिर आयीं। बरार की जनता ने जब जाना कि इसी हेतु मगध युवराज कुमारगुप्त एवं महाकवि कालिदास राजधानी में पधारे हैं तो उन्होंने स्वागत में अपने हृदय प्रकट कर दिये।

राजधानी के उस हर्षोल्लास में नागरिकों ने स्थान-स्थान पर स्वागत-द्वार बनाये। जय-गान प्रस्तुत किये। नगर भर में उस रात्रि दीपावली संजोयी। युवराज कुमारगुप्त एवं महाकवि ने नगर-भ्रमण किया। हाटों-मार्गों में मगध युवराज एवं महाकवि के दर्शन-मात्र हेतु सर्वत्र नरमुण्ड ही नरमुण्ड दिखाई देते थे।

जयनाद, तुमुलवाद्यों की ललित-स्वर-लहरियों, तूर्य घोषों से दिक्-दिशायें प्रकिम्पत हो उठीं। मगध युवराज अथवा महाकवि ने, इसके पूर्व, पाटलिपुत्र में अनेक विजयोत्सवों में भी जनता का इतना उत्साह, वैसा हार्दिक सत्कार नहीं देखा था।

जनता के स्वागत के अतिरिक्त वाकाटक रुद्रसेन ने जो राज-प्रासाद में अनेक दिवसों तक युवराजका एवं महाकवि का अभूतपूर्व स्वागत किया वह अकथनीय था। वह दो महाराज्यों का राजनीतिक बन्धन था। वह दो राज्य-सत्ताओं का एकत्रीकरण था। वह दो राज्यात्माओं के ग्रन्थि-बन्धन का सूत्रपात था। वाकाटक नरेश रुद्रसेन वास्तव में अत्य-धिक प्रसन्न था।

महाकवि को भली प्रकार विदित था कि ज्योतिष गणना के आधार पर यह अप्रकट-प्रकट है कि मगध राजकुमारी प्रभावती का सौभाग्य सिन्दूर अचिर है। महाकवि को यह ज्ञात था कि वाकाटक नरेश रुद्रसेन एवं मगध-राजकुमारी प्रभावती का यह परिणय-बन्धन ज्योतिष के आधार पर अपेक्षणीय नही है। इस पर भी विशेषता यह है कि वह अटल भी है। उसमें 'दो' के स्वाभाविक पाणिग्रहण के उस ग्रन्थि-बन्धन के अतिरिक्त तत्कालीन राजनीतिक गुत्थियों का खुलाव-सुलझाव भी

तो अन्तर्निहत है। तब दक्षिण से मैत्री स्थापना भी तो परमावश्यकीय है।

अस्तु, वाकाटक नरेश रुद्रसेन की स्वीकृति प्राप्त कर युवराज कुमारगुप्त एवं महाकवि कालिदास बरार से विदा हुये।

× × ×

"महाकवि आपका कार्य-क्रम ?"

"सम्राट् के निर्देशानुसार मुझे···युवराज के," कहते-कहते महाकवि मुस्करा दिये।

"क्या पूज्यवर ?"

"तुम्हारे कुंतल जाना है। राज-प्रतिनिधि पद प्राप्त करना है।"

निश्चय ही कुंतल का नाम समक्ष आते ही युवराज किंचित लज्जालु हो गया। लज्जा उसमें स्वभाव की न थी। वह मगध का युवराज था। वह मगध का भावी शासक था। उसने अभी थोड़े समय पूर्व ही सौराष्ट्र का दर्प विदीर्ण किया था। उससे न जाने कितने युद्ध सम्भावित थे। किन्तु वह अपनी अनुरागमयी भावना से प्रताड़ित था। ललितांगी के प्रति जो सहज उदार मोह उसमें व्याप्त हो गया था—वह उसके अन्तराल को अधीर कर रहा था।

बाकाटक नरेश रुद्रसेन से अपनी भगिनी प्रभावती का लग्न-बन्धन निश्चित कर वह एक कार्य से निश्चिन्त हुआ था। इस क्षण महाकवि के मुख से कुंतल का नाम सुनते ही न जाने उसके हृदय में कैसी हिलोरें उठने लगीं। वह नारी के प्रति पुरुष की सहज-सुलभ आसक्ति थी। रूप के प्रति मन का मोह था। यौवन के प्रति युवक की अनुदारता थी अथवा वह ललितांगी के प्रति कुमारगुप्त की अमर्यादित उत्तेजना थी, वस्तुतः कुमारगुप्त को कुछ भी ज्ञात न था।

तभी कुमारगुप्त ने अवरुद्ध कंठ को किंचित स्वच्छ करने का प्रयास किया जिसे अनुभवी महाकवि ने लक्षित किया और बोले—"युवराज !

क्या बात है ? स्वस्थ तो हो ?……"

"पूर्णतः ।"

"अस्तु, युवराज का क्या कार्य-क्रम है ?"

"पाटलिपुत्र ।"

"क्यों ? मेरे साथ उज्जयिनी चलें । वहां से मैं कुंतल की राजधानी वैजयन्ती चला जाऊंगा और युवराज पाटलिपुत्र चले जावें……।"

युवराज ने ध्यान किया, वह कह दे—"क्यों महाकवि वह भी कुंतल क्यों न चले ? वह साथ-साथ उज्जयिनी जावे । तब वहाँ से साथ-कुंतल । किन्तु वैसा वह कह न सका ।

"महाकवि ! आप उज्जयिनी जावें । मुझे शीघ्र पाटलिपुत्र पहुँचना है । महाराज को सूचना भी देनी है साथ ही माँ ने भी तुरन्त लौटने का निर्देश किया था ।"

"तब ऐसा ही करें, युवराज," महाकवि ने साधारण भाव से उत्तर दे दिया । किन्तु युवराज वह उत्तर नहीं चाहता था । वह चाहता था महाकवि से कहलाना—"युवराज कुंतल चलो ।"

यों तत्सम्बन्धी प्रसंग वहीं समाप्त हो गया और महाकवि बाकाटक नरेश के स्वागत-सत्कार की अनेक प्रकार से प्रशंसा करते रहे ।

लौटने में युवराज के हाथी पर इस समय महाकवि चल रहे थे तथा महाकवि के हाथी पर भद्रसेन चल रहा था । इस प्रकार महाकवि एवं युवराज कुमारगुप्त विभिन्न वार्तालाप करते हुये चलते चले जा रहे थे । कभी महाकवि किसी प्राकृतिक दृश्य को देखकर प्रसन्न हो लेते । यदि उनका जी चाहता तो उस दृश्य का आनन्द युवराज पर भी प्रकट करते । कभी कवि की आस्था में दृश्य का एकांतिक सुख प्राप्त कर किसी भविष्यत् कृति के लिये उसे हृदयांकित कर लेते ।

इस सब में महाकवि का कवि-हृदय, उनका पारखी हृदय अनेक बार लक्ष्य करता कि युवराज कुछ अस्थिर प्रतीत होता है । उसकी आकृति में यौवन की उन्मुक्त खिलखिलाहट नहीं है । उसके वार्तालाप

में ही नहीं उसके हास में भी अन्तरपीड़ा की एक विचित्र सी रेखा खिच आती है। उसकी दृष्टियाँ भी कुछ खोई-खोई सी दिखाई देती हैं।

तत्काल ही महाकवि ने अपनी लक्षणा-व्यञ्जना के आधार पर निर्धारित किया कि युवराज का हृदय व्यथित है। वह किसी—नहीं पूर्व विदित वैदग्ध से उत्पीड़ित है। तब उसको वैग्दध क्यों कहा जावे। किसी गहन स्मृति से अस्थिर- अव्यवस्थित है। अतएव महाकवि ने चर्चा प्रारम्भ कर दी—"युवराज।"

'हाँ पूज्यवर।"

"युवराज को कोई वेदना ?"

युवराज चौका। वह मौन हो गया।

"कुछ उद्विग्न प्रतीत होते हैं...।" महाकवि ने दोहराया।

"नहीं तो श्रद्धेय।"

"इस पुरुष-नारी के सहज पारस्परिक आकर्षण-सम्मोहन के सम्बन्ध में क्या—कितना समझते हैं, युवराज ?"

युवराज कुमारगुप्त महाकवि का आशय तो समझ रहा था किन्तु उत्तर उसकी समझ के बाहर था। वह पुनः मौन हो गया।

विवश हो, महाकवि ने अपनी ओर से ही कहा—"युवराज ! इस पुरुष-नारी के सहज पारस्परिक आकर्षण में हमारा संसार नहीं सृष्टि कार्य करती है। समाज नहीं संकल्प कार्य करते हैं। संकल्प जगत के नहीं अन्तर के होते हैं। अन्तर कहीं अवश होता है, कहीं कृत कर्म होता है तो कहीं जड़, और वह सब कुछ प्रकृति के समान सशक्त परिस्थितियों पर अवलम्बित होता है युवराज।...पुरुषार्थ से ये परिस्थितियां बनती-बिगड़ती भी हैं, किन्तु कहीं परिस्थितियां स्वतः बना-बिगाड़ देती हैं। वैवश्य में बड़े से बड़ा पुरुषार्थी विचलित नहीं तो कहीं अधीर अवश्य हो जाता है। तब भी आधार से अस्थिर हो जाया जावे, लक्ष्य से च्युत हो जाया जावे, अभीष्ट-प्राप्ति के आह्वान को स्वीकार न

किया जावे—यह एक महान निर्बलता है। और निर्बल का परमेश्वर भी सहाय्य नहीं होता।···जो परमेश्वर नहीं मानते वे भी वैसे में क्या कर सकेंगे युवराज ! बोलिये।"

"कुछ तो नहीं महाकवि।"

"तो मेरा अभिप्राय था किन्हीं वैयक्तिक परिस्थितियों के सुगम्य-दुर्गम्य को व्यक्ति ही अधिक सफलतापूर्वक ज्ञात कर सकता है।··· तथापि व्यक्ति का वातावरण यदि कहीं दुःसाध्य होता है तो कहीं बड़ा सहायक भी।"

"वह तो है श्रद्धेय !"

"तब किन्हीं स्मृतियों के सुख अथवा दुरूहता में, मानना होगा, आत्मा का सम्बल ही महत् आधार सिद्ध होगा।.....और इस सबका निष्कर्ष-आशा महत्-महत् साधना है युवराज ! एकाधार।"

".....।"

"मैंने आपसे कहा मैं कुंतल जा रहा हूँ।"

".....।"

"इससे अधिक—यही कि आप स्वस्थ-चित्त हों। मैं और कुछ नहीं कहूँगा।"

२३

वह यात्रा-दल उस समय अत्यधिक मनोमुग्धकारी प्रतीत हो रहा था। बारह अश्व-सैनिकों की एक रक्षक श्रेणी आगे-आगे चल रही थी। उसके पश्चात् युवराज एवं महाकवि का गज मन्थर गति से गमन कर रहा था। इसके अनन्तर ही एक-दूसरे गज पर दुःखी सा एकान्तिक भद्रसेन चल रहा था। इस समय भद्रसेन को मार्ग में वार्ता-विहीन बैठना पड़ रहा था अतः वह कुंठित हो रहा था। उसे यों भी महाकवि रुचिकर न थे। वह अनेक बार अपने विचार व्यक्त किया करता था—"महाकवि भी क्या हैं ? कुंतल-केश; ललाट; भ्रूभृंग, उग्र, शांत; नासिका, शुक सी, पिकसी; नेत्र उनके लाल, पीले, नीले, रंग; ओष्ठ ऊपर के, नीचे के ; ठोढ़ी कहीं पतली कहीं थलथल ; कमल नाभ सी कदली-स्तम्भों सी जघायें ; ग्रीवा-मयूरसी, सारस सी, हंस सी ; कमल नाभ से बाहु; समूची काया के अनगिन रंग—विशेषतः उरोजों पर आसक्ति, नितम्बों पर भी अटकाव ; और कभी ऐसा गमन और कभी वैसा गमन; और हास- कभी मृदु, कभी कठोर ; और वार्ता-संलाप—उच्च-उच्चतर, मृदु-मधुमय और तब रति-काम-क्रीड़ा के हाव-भाव; हे भगवान् ! वे हाव-भाव-विधि-व्यवहार सरल-विपरीत—बस सब कविता यहीं कहीं केन्द्रित रहती है। यह नहीं कि कहीं ओज पूर्ण, युद्धोत्तेजक, शत्रुसंहारकारी, मानभंजक कवितायें प्रस्फुटित करें।

किन्तु वह विवश करता क्या ? वह हुआ करे योद्धा ! महा कवि तो वह लिखेंगे जो जन-जन को प्रिय हो। जो रसमय हो। जो रसात्मक वाक्य हो। जो वीभत्स रस नहीं सुरस प्रकट करें। जो शृंगार की सरसता को प्रभावित करें।

और इस क्षण युवराज का महाकवि के साथ बैठना तो भद्रसेन को एक क्षण को भी नहीं भा रहा था। किन्तु यहां भी वह विवश, करता क्या ? साथ ही वह क्षुधातुर हो रहा था। युवराज को वार्ता में विभोर देखकर उसे और रोष आ रहा था। वस्तुतः भोज्य-सामग्री साथ थी, किन्तु वह दूर थी, बहुत दूर, उसके गज के पीछे सैनिकों की लम्बी पंक्तियों के बहुत पीछे। वे पंक्तियां और दीर्घ हो गयी थीं। इस कारण कि उनमें महाकवि के अश्व-रक्षक भी सम्मिलित हो गये थे। इससे भद्रसेन और अधिक आवेग में भरता चला जा रहा था।

किन्तु क्षुधा उसे ही नहीं महाकवि को भी प्रतीत हुई। महाकवि के संकेत पर युवराज ने निर्देश संकेत किया और सम्पूर्ण सैनिक श्रेणियां राजमार्ग पर यथावत् स्थित हो गयीं। तभी सैनिक श्रेणियों में एक छोर से दूसरे छोर तक सतर्कता-तत्परता व्याप्त हो गयी। युवराज के हाथी के आगे के सैनिकों में से एक युवराज का संकेत पाकर आगे आया।

"कुछ जलपान.....," युवराज ने प्रकट किया।

देखते-देखते सैन्य दल निकटवर्ती समतल भूमि पर फैल गया और तब उसी प्रकार सर्वत्र जलपान वितरित कर दिया गया। सैनिक अश्वों पर चढ़े-चढ़े ही खाते रहे और युवराज तथा कवि कालिदास साथ ही दूसरे हाथी पर बैठा भद्रसेन भी जलपान के आनन्द सहित सरस विनोद-वार्ता करता रहा किन्तु अन्तर्मन में वह महाकवि से कुंठित था। वह ध्यान कर रहा था—महाकवि के बिना मगधराज-सत्ताधारियों का पत्ता भी नहीं

हिलता। मेरी क्षुधा का कुछ महत्व ही नहीं था। अब महाकवि के लिये तत्काल जलपान की व्यवस्था हो गयी और उसके साथ इन समस्त सैनिकों की भी।

"अब हम किधर प्रस्थान करेंगे, युवराज ?" भद्रसेन ने प्रश्न किया।

"आगे एक राजपथ कटता है। हम यहाँ से पाटलिपुत्र की ओर गमन करेंगे और महाकवि वहाँ से उज्जयिनी की ओर प्रयाण करेंगे," युवराज ने उत्तर दिया।

"सुन्दर·····," कहते हुए जैसे भद्रसेन ने सन्तोष का अनुभव किया।

× × ×

महाकवि से विदा लेकर युवराज ने अपनी सैन्य-श्रेणी सहित पाटलिपुत्र की ओर प्रस्थान किया। उज्जयिनी का मार्ग पृथक् हो जाने के अनन्तर भद्रसेन पूर्ववत् युवराज के हाथी पर ही आ बैठा।

कुछ दूर चलने के अनन्तर भद्रसेन बोला—"युवराज !"

"क्यों ?"

"एक बात कहूँ।"

"क्या ?"

"तुम्हारे लाभ की है।"

"क्या ?"

"कुंतल जाने का प्रसंग भूल गये।"

युवराज जैसे सोते से जाग उठा। "चलना तो था। किन्तु अब तक महाकवि जो साथ थे।"

"अब तो नहीं हैं।"

"किन्तु उज्जयिनी से वे भी कुंतल जायेंगे, न।"

"उज्जयिनी से होकर जायेंगे, न।"

"हां।"

"तब तक हम कुंतल होकर लौट भी सकते हैं," कहते हुए भद्रसेन युवराज की आकृति पर अंकित भाव-रेखाओं को पढ़ने का प्रयास करता रहा। उसे लगा जैसे उन रेखाओं में मुस्कान का मोद उभर रहा है।

"तब व्यवस्था करो भद्रसेन!" युवराज ने आदेश दिया और अपनी दृष्टि शून्य में एवं मन कुंतल राज-प्रासाद के कल्पना-लोक में केन्द्रित कर ली।

भद्रसेन के सैनिक संकेत पर सैन्य-श्रेणियाँ यथास्थान अचल हो गईं। तब भद्रसेन ने अपने सैन्य-दल को दो भागों में विभक्त किया। एक दल को आदेश दिया कि वह उज्जयिनी के पूर्व सारंगपुर में उनके लौटने तक प्रतीक्षा करे और तब एक लघु-सैन्य-रक्षा-श्रेणी को साथ लेकर भद्रसेन ने युवराज सहित कुंतल को प्रस्थान किया।

भद्रसेन इस समय प्रसन्न था कि वह अपने युवराज का कार्य कर रहा है। वह मगन था कि किसी स्नेही को सहयोग दे रहा है। वह मुदित था कि जगत की परम्परा के विपरीत वह दो के मिलन में बाधा नहीं सहयोग उपस्थित कर रहा है। सर्वाधिक प्रसन्नता उसे इस बात से थी कि तत्क्षण युवराज अत्यधिक प्रसन्न था।

तभी युवराज के ललाट पर कुछ चिन्ता-रेखायें खिंच आयीं—"भद्रसेन! यदि हम समय पर न लौट सके और महाकवि वहाँ पहुँच गये तो वे क्या कहेंगे? वे सोचेंगे उनके साथ यह प्रभेद क्यों किया गया? वे तो स्वयं ही कह रहे थे कि मैं उनके साथ ही कुंतल जाऊँ।"

"आप विशेष बुद्धिमान हैं, महोदय। प्रथम तो हमें विलम्ब होने का कारण ही क्या है? एक भेंट के हेतु ही तो वचन-बद्ध था मैं? उसकी संयोजना मैं कर दूँगा। एक भेंट में विलम्ब ही क्या? दूसरे—'महाकवि स्वयं ही कह रहे थे कि मैं उनके साथ ही कुंतल जाऊँ...'

कह कर भद्रसेन ने युवराज के शब्दों को दोहराते हुए विचित्र सी टेढ़ी-मेढ़ी आकृति बना ली।"

"यह क्या ?" युवराज ने भद्रसेन के मुँह मटकाने को देखकर प्रश्न किया।

"यह यह कि अपनी प्रेयसि से मिलने जा रहे हो अपने पिता····· मेरा अभिप्राय पिता के मित्र के साथ। क्या बुद्धि है ?"

"अच्छा बिगड़ो मत। किन्तु एक बात मैं कहूँगा कि तुम वहाँ विलम्ब मत करना।"

"देखिये महोदय ! आपकी इच्छा हो तो चलिये अन्यथा मेरा कोई कार्य कुंतल में नहीं अटक रहा है।"

"भाई ! मुझे भय लगता है। मान लो वहाँ मुझे किसी ने पहचान लिया और होने लगा वहाँ आतिथ्य, तब ?"

"तुम्हारी 'उनके' अतिरिक्त वैजयन्ती में तुम्हें पहचानने वाला होगा कौन ? मेरा अनुमान है कुंतलेश महाराज काकुस्थवर्मन ने स्वयं ही तुम्हें नहीं देखा होगा कि एकाक्षी हो, कि कृश हो, कि स्थूल हो, कि लूले हो, कि कुष्ट-रोगी हो, कि क्या हो ? बस मगध युवराज हो, अपनी राज-कुमारी के पति होने के सर्वथा उपयुक्त हो। भले ही तुम्हारे सहस्र सम्राज्ञियाँ और हों ? भले ही तुम किसी अन्य नारी के···।"

"भद्रसेन ! कभी-कभी अधिक बोलने लगते हो।·····मैं किसी अन्य नारी·····"

"यह तो उस दयनीय ललितांगी का सौभाग्य है कि···।"

"वह दयनीय कैसे ?"

"कि तुम्हारे सदृश वैरागी युवराज उसे पति रूप में प्राप्त हो रहा है।·····जीवन में न जाने कहाँ विराग साध लो और कब-कहाँ राग ?"

"मूर्ख ! इस सब का आरोपण जीवन में एक ही बार होता है।

"ये राग-विराग के नैतिक बन्धन भी निर्बल के लिये ही हैं। महामहिम सम्राट चन्द्र गुप्त के दो महिषियां, उनके पिता तब पिता के पिता तब उन के अनगिन राग-अनुराग।"

"भद्रसेन। बात हम अपनी कर रहे हैं। पिता अथवा पितामह की नहीं। तुम्हारे इस मूर्खतापूर्ण तर्क का क्या उत्तर दूँ। वह राग है मूर्ख ? उन विवाह-बन्धनों में कितने कारण सन्निहित रहते हैं—तुम्हे ज्ञात है ?"

"है ! केवल एक। काम-तुष्टि, इन्द्रियासक्ति।"

"अच्छा बक-बक समाप्त करो।"

"देखिये महाशय ! कुंतल में भी यदि सब के सामने मुझे इसी प्रकार दुरदुराना हो तो मुझे क्षमा कीजिये। मुझे यहीं छोड़ दीजिये·····।"

"यह सब के सामने क्या ? सब कौन ?" कहते हुए कुमारगुप्त मुस्करा दिया।"

"आई हँसी, आई·····।"

किन्तु कुमारगुप्त तत्काल ही गम्भीर होगया और ध्यान करने लगा महाकवि की उस बात का·····उस पुरुष–नारी के सहज पारस्परिक आकर्षण में हमारा संसार नहीं सृष्टि कार्य करती है।

तब मार्ग भर युवराज एवं भद्रसेन उसी प्रकार विनोद-वार्ता करते चले गये। उस युग में शीघ्र-गमन के साधनों के अभाव में यात्रा में जो विलम्ब लगता था उसके आधार पर बरार से कुंतल पहुंचने में उस दल को अनेक दिवस लग गये। मार्ग में नाना प्रकार से आमोद प्रमोद करते, आखेट करते, कहीं विश्राम करते, अनेक नये ग्राम, नगर, वन, पर्वत, दर्शनीय जल-प्रपात देखते युवराज कुमारगुप्त कुंतल की ओर बढ़ रहा था। मार्ग के अवरोधों का अनुभव भी इन्हें हुआ। एक स्थल पर दक्षिण प्रान्त के भयावह जंगलों में से सिंहों का एक समूह इनके समक्ष आ गया। यों, उन सिंहों का संहार हुआ किन्तु

एक उत्कट सिंह ने युवराज के गज पर भंयकरता से आक्रमण कर दिया। गज युवराज को लेकर भागा और वन-प्रदेश में घुस गया। तब पूरे दो दिन के अनन्तर भूख-प्यास से व्यथित युवराज अपने सैनिकों से भेंट कर पाया। सैनिक भी युवराज की खोज में अधमरे होगये।

एक स्थान पर वन्य-प्रदेशीय दुर्धर्ष योद्धा स्त्रियों ने युवराज के सैनिकों पर बाण वर्षा-प्रारम्भ कर दी। युवराज के सैन्य-दल में प्रत्युतर के हेतु धनुष-बाण ही न थे। यह दल तो लग्न-संस्कारों की सम्पन्नता में अधिक से अधिक, केवल खड्ग अथवा भाले लिये हुये था। येन-केन प्रकारेण सब को भाग कर अपनी रक्षा करनी पड़ी। इसमें अनेक अश्व बाणों से विंध कर मारे गये जिन्हें मार्ग में ही छोड़ना पड़ा। एक सैनिक भी मारा गया।

ये जहां भी जाते अपने को मगध का युवराज अथवा मगध सैनिक न कह कर पर्यटक कहते थे और वाल्हीक प्रान्त से आना बताते थे।

अन्ततः कुंतल के दक्षिणी तोरण दीख पड़ने लगे।

किसी प्रकार आपदाओं की निवृत्ति सहित कुंतल प्रदेश के दर्शन हुये।

२४

"मैं कहता हूँ यही आचार्य है।"

"हः, एक साधारण संगीताचार्य इस प्रकार के राजसी वेश—व्यवहार में ? इतने सैनिक अश्वारोहियों सहित ? असम्भव। यह या तो कोई राजकुमार है अथवा कोई विदेशी सार्थवाह।"

"मैं कहता हूँ—निश्चित ही यह आचार्य है। मैंने उसे देखा है। वही है। कुछ साथी अथवा अश्व प्राप्त कर लेना कौन सी बड़ी बात है," सीमा प्रदेश की रक्षक-श्रेणी के अधिनायक ने अपना दृढ़ मत प्रकट किया।

"आप जानिये। उसका उत्तरदायित्व आप पर होगा," उप-नायक ने कहा।

तभी अधिनायक ने आगे बढ़कर तीव्र स्वर में प्रश्न किया—"तुम लोग कौन हो जो इस प्रकार बिना अनुमति कुन्तल की सीमा में घुस आये हो ?"

"हम वाल्हीक प्रान्त से आ रहे हैं। देशाटन करने निकले हैं," भद्रसेन ने आगे आ कर उत्तर दिया।

"तुम झूठ बोलते हो। ·····तुम्हारे साथी इस आचार्य को कुंतल से निष्कासन-आज्ञा मिली हुई है। तब यह यहाँ क्यों आया ? क्या जान-

बूझ कर बन्दी होने ? ठीक है । सैनिकों ! बन्दी कर लो, इन सब को," अधिनायक ने आदेश दिया ।

आदेश के साथ ही कुंतल सैनिकों ने मागध युवराज, सैन्याधिकारी एवं सैनिकों को घेर लिया । मागध सैनिकों के हाथ तत्परतापूर्वक अपने-अपने खड्गों पर पहुँच गये किन्तु भद्रसेन ने उच्च स्वर में पुकारा—"शान्त ।"

दूसरे ही क्षण युवराज अपने दल सहित सीमाप्रान्तीय बन्दी-गृह में पहुँच गया । वह मित्र भद्रसेन के परिहासों से कभी मुस्कराता तो कभी गम्भीर हो जाता ।

प्रथम पग-विक्षेप पर बन्दी-गृह में भद्रसेन कह उठा था—"जय कुंतल ! जय मागध-युवराज ! जय कामिनी ललितांगी !"

युवराज निरन्तर हँस रहा था । तत्काल ही वह हँसते-हँसते गम्भीर हो गया—"देखा मूर्ख ! अब महाकवि आये और अब हमारा भंडाफोड़ हुआ ।"

"हे भगवान् ! महाकवि तो परमात्मा हो रहे हैं । जहाँ देखो महाकवि आये । जब देखो आये । ·····आयेंगे तो वे जान लेंगे हम पुरुषत्व ओज से परिपूर्ण युवक हैं—युवक ।"

"किन्तु अब होगा क्या ?"

"देखते जाओ ।"

× × ×

कुंतल में सर्वत्र चर्चा प्रसारित हो गई कि आचार्य धनञ्जय सीमा प्रदेश में बन्दी बना लिये गये ।

सीमा प्रदेश से राजधानी तक बन्दियों सहित कुंतल सैनिकों को समय लगा । मार्ग में युवराज ने भद्रसेन से कहा—"भद्रसेन ! वाह क्या परिस्थिति है । स्नेह का अच्छा प्रारम्भ है ?"

"बहुत अच्छा । यही विजय है," भद्रसेन ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया ।"

"किन्तु यह आचार्य क्या चक्र है ?"

"यह कोई कुचक्र है। मैं उसी ओर तब से ध्यान किये हूँ। ..... देखो क्या होता है ?" कहते हुए भद्रसेन उठ खड़ा हुआ।

वे सभी एक पान्थशाला में ठहरे हुए थे। मागध युवराज एवं भद्रसेन के साथ केवल चार सैनिक लाये गये थे। नियमानुसार ये सब सीमा-प्रान्त में ही निःशस्त्र कर दिये गये थे। शेष सैनिक अभी सीमाप्रान्तीय बन्दीगृह में थे।

अस्तु, आचार्य की बात भद्रसेन ने जब से सुनी थी तभी से उसका मस्तिष्क उस ओर कार्यरत था। कुमारगुप्त भी उस आचार्य में ही उलझा हुआ था। भद्रसेन ने तो ध्यान कर लिया था कि इस आचार्य-नाम पर ही आगे रूपरेखा निर्धारित करने में कुछ सहायता मिल सकेगी। तभी भद्रसेन ने बढ़कर एक कुंतल सैनिक से धीरे-धीरे वार्तालाप प्रारम्भ किया। उसने धीरे से एक स्वर्ण-मुद्रा उस सैनिक के हाथ में रक्खी और उससे प्रश्न किया—"क्यों भाई, बलाधिकृत ! यह आचार्य कौन है ? इनका कुंतल से निष्कासन क्यों हुआ ?"

सेना में बलाधिकृत उच्च अधिकारी को सम्बोधित करते हैं। इस समय अपने प्रति बलाधिकृत शब्द का सम्बोधन सुनकर वह सैनिक अत्यधिक प्रसन्न हुआ किन्तु किंचित् गम्भीर होकर बोला—"महोदय ! आचार्य को साथ लिये घूम रहे हो और मुझ से भेदवार्ता करना चाहते हो।"

"यह कौन है—यह तो मैं तुम्हें बाद में बताऊँगा। केवल बताऊंगा ही नहीं; बहुत पारितोषिक दिलाऊँगा। किन्तु तुम यह बता दो कि यह आचार्य कौन था ?" भद्रसेन अनुनय सहित पूछता रहा।

"वाह ! तुम मुझे बाद में बताओगे और मैं तुम्हें सब कुछ पहले बता दूँ। .....और तुम बताओगे क्या ? क्या मुद्रा के आधार पर आचार्य को मुक्त कराने की योजना बनाना चाहते हो ?"

भद्रसेन किसी भी मूल्य पर युवराज का रहस्योद्घाटन नहीं करना चाहता था और अब धीरे-धीरे वह चिन्तित हो रहा था। वह सोच रहा

था···युवराज की कुछ हानि तो न होगी किन्तु एक तो विलम्ब होगा दूसरे यदि किसी प्रकार युवराज का प्रकटीकरण हो गया ·····तब क्या परिस्थिति होगी ? कुंतल में प्रत्येक क्या सोचेगा ? कुंतल नरेश काकुस्थवर्मन क्या ध्यान करेंगे ?·····किन्तु वे ध्यान क्या करेंगे। ज्ञात हो जाने पर तो क्षमा-याचना ही करेंगे। अत्यधिक सम्मान-सत्कार करेंगे। बिना बुलाये जामातृ घर पधारे हैं। ध्यान करते-करते भद्रसेन ने युवराज को सामने बैठे हुये देखा और मुस्करा दिया। उस समय युवराज उदास मुद्रा में बैठा भद्रसेन व कुंतल सैनिक को वार्तालाप करते-करते दूर से देख रहा था एवं प्रतिफल की चिन्ता में था।

तभी भद्रसेन ने कहा—"नहीं बलाधिकृत यह बता दो कि आचार्य के कुंतल से निष्कासन का कारण क्या था ?"

"हः, तुम्हें नहीं ज्ञात है ! उस आचार्य को नहीं ज्ञात है ! मुझ से पूछना चाहते हो ? परिहास कर रहे हो," कुंतल सैनिक ने ज्यों भद्रसेन को डपटते हुए कहा।

भद्रसेन सोच रहा था—समय की गति की बात। कहाँ वह समृद्धि-शाली दिग्विजयी सम्राट् चन्द्रगुप्त के सन्धि विग्रहीक का भतीजा कहाँ वह साधारण कुंतल सैनिक। वह भी उस देश का सैनिक जहाँ उसके अन्यतम सखा सामने बैठे उस मागध-युवराज को उसके अधिपति की पुत्री ब्याही जाने को है।···युवराज की दयनीय भाव-भंगिमाओं को समझ देखकर भद्रसेन पुनः मुस्करा दिया। ···किन्तु वह सोचता रहा—कैसे काम चलेगा ? इस कुंतल सैनिक को कैसे विश्वास में लिया जावे ?

तभी उसने कुंतल सैनिक से कहा—"मित्र ? कौन हो शैव कि वैष्णव ?"

"न शैव, न वैष्णव," कुंतल सैनिक ने तत्परता पूर्वक उत्तर दिया।

भद्रसेन सोचता रहा—तब दुष्ट कौन है ?

तत्काल ही प्रकट में उसने सैनिक से प्रश्न किया—"तब कौन धर्मा-वलम्बी हो, बन्धु ?"

"मैं बौद्ध हूँ।"

भद्रसेन ने ध्यान किया—कुंतल के ये अहिंसक योद्धा भी विचित्र हैं। तभी उसने कहा—"अच्छा यदि तुम भगवान् बुद्ध की शपथ लो और कहो कि तुम इस रहस्य को किसी से न कहोगे, तब मैं तुम्हें कुछ बता सकता हूँ।"

"मुझे क्या आवश्यकता है ? और मैं भगवान् की शपथ भी क्यों लूँ ?·····वह तो मैं मृत्यु-भय समक्ष होते हुए अथवा समग्र जगत के साम्राज्य प्रलोभन पर भी न लूँगा।"

भद्रसेन की यह युक्ति भी व्यर्थ गई। तब उसने पुनः कहा—"अच्छा शपथ न लो तथागत को साक्षी कर लो।"

"हः—बात तो वही हुई। मैं निष्प्रयोजन भगवान् को साक्षी क्यों करूँ ?"

हताश भद्रसेन युवराज के निकट लौट आया और बोला—"बुरे फंसे। धूर्त न मुद्रा लेता है न कुछ बताता ही है !"

"तब ?"

"पुनः प्रयत्न करूँगा।"

× × ×

"कहो सैनिक ! तुम्हें इस आचार्य ने कहां से पकड़ा ?"

"कौन आचार्य ?"

"वह जो भोला सा सामने बैठा है," कहते हुए कुंतल सैनिक ने युवराज की ओर संकेत किया—"हाँ भाई ! अब तो उसे राजकुमार बन कर आना ही था। राजकुमारी को जो प्रभावित करना है।····· हां, तो सैनिक तुम इस जाल में कहाँ फँस गये ?"

मागध सैनिक ने कुछ समझा। भद्रसेन ने उसे समझा भी दिया था कि वह यह न व्यक्त करे कि उनके साथ मगध युवराज हैं। तभी मागध सैनिक ने उत्तर दिया —"हम तो वाल्हीक प्रदेश के प्रवासी हैं।"

"सब समझा कर लाया है आचार्य । सुना सेतव्य !" कुंतल सैनिक ने कहा ।

"कितनी मुद्रायें प्राप्त की हैं, युवक ! इस छद्मवेशी आचार्य से ?"

"मैं इनका दास हूँ ।"

"इसके और कभी भी दास थे ? तनतू तनू करने वाले भी अब दास लिये घूमते हैं, सेतव्य !"

"भाई इसके बिना कुंतल नरेश का रोष कैसे शान्त होता ? अब वे समझेंगे आचार्य केवल संगीताचार्य नहीं वाल्हीक के किसी राज्य का राजकुमार है," सेतव्य ने उत्तर दिया ।

"बन्धु ! एक प्रश्न करूँ ?"

"क्या ?"

"यह क्या प्रसंग है ? आचार्य, कुंतल नरेश, राजकुमारी यह सब कैसी पहेली है जो आप व्यक्त कर रहे हैं," मागध सैनिक ने पूछा ।

"तुम्हें नहीं ज्ञात ?·····हां, ठीक ही तो है, तुम्हें कैसे ज्ञात होगा अन्यथा तुम कदापि उस आचार्य के साथ न आते । आज इस युग में व्यक्ति की नैतिकता इतनी निम्न नहीं है कि छल-छद्म-पूर्वक किसी देश की राजकुमारी पर दबाव डालकर उसको हस्तगत करने में कोई सहयोग करे," सेतव्य बोला ।

"सेतव्य ! यह मत कहो । हस्तगत करने का क्या प्रश्न है । राजकुमारी स्वयं ही जो अनुरक्त है ।"

मागध सैनिक के कान खड़े हो गये । तभी कुंतल सैनिकों ने पृथक्-पृथक् तथा मिलकर वह सब कथा मागध सैनिक के कान में उतार दी जो कुंतल व आचार्य को लेकर प्रचलित थी ।

हतप्रभ सा मागध सैनिक हड़बड़ाता हुआ भद्रसेन के निकट आया और उसने विस्तारपूर्वक अपने व कुंतल सैनिकों के मध्य हुई वार्ता कह सुनाई ।

भद्रसेन—एक पल को निर्वाक् रह गया किन्तु तत्काल ही उसने अपने को व्यवस्थित किया। उसने अपनी नीति निर्धारित की। अपने कार्य की गतिविधि एवं रूपरेखा सोच ली और तब वह बोला—"जयगुप्त ! यह भेद किसी पर भी प्रकट न हो। युवराज पर भी नहीं।"

× × ×

कुंतल सैनिकों से घिरा मागध युवराज कुमारगुप्त एवं सैन्याधिकारी भद्रसेन अपने चार सैनिकों सहित राजपथ में चले जा रहे थे। युवराज सोच रहा था—आचार्य का पता कैसे लगे ? भद्रसेन सोच रहा था—आचार्य का पता लग कर कुछ भला नहीं हुआ। कम से कम युवराज के लिये वह अप्रिय प्रसंग है।

अश्व निरन्तर बढ़ रहे थे। सभी कुंतल राजधानी वैजयन्ती की ओर अग्रसर थे।

भद्रसेन ने अपने कार्य की रूपरेखा बना ली थी तथा अपने सैनिकों को निर्देश कर दिया था। युवराज से भद्रसेन ने कह दिया था," कुछ समय तक तुम आचार्य ही बने रहना। बुद्धि से कार्य करना। यदि राज कुमारी के समक्ष भी जाओ तब भी आचार्य ही बने रहना। यदि कुछ समय के लिये विलग हो जावें तब भी व्यग्र न होना।"

तभी राजपथ को मागध सैन्याधिकारी भद्रसेन ने जहाँ पर्वतीय शिलाखंडों से घिरा पाया वहीं उसने सांकेतिक निर्देश दिया जिस पर तत्परतापूर्वक चारों मागध सैनिक तथा पांचवाँ स्वयं भद्रसेन कुंतल सैनिकों पर टूट पड़े।

निमिष मात्र में कुंतल सैनिकों से छः खड्ग छीन लिए गये। छठा खड्ग युवराज को उछाल दिया गया। कुंतल सैनिकों की उस सैन्य-श्रेणी में तीस सबल योद्धा थे किन्तु मागधों के छः भी उनको पर्याप्त से अधिक थे। उनमें एक सैन्याधिकारी ही था जिसमें सर्वाधिक युद्ध

कौशल प्रकट हो रहा था। उसी की तत्परता का स्पष्ट उदाहरण कुंतल सैनिकों के समक्ष उपस्थित हुआ। मागध युवराज कुमारगुप्त भी शस्त्र-संचालन में बहुत सिद्धहस्त था।

विलम्ब तक खड्ग-युद्ध चलता रहा। कुंतल सैनिक भी उत्कटता-पूर्वक संघर्ष कर रहे थे। प्रश्न बन्दियों के भाग जाने का उपस्थित था। वैसे में उन सबकी क्या स्थिति होगी—यह ध्यान कर कुंतल सैनिक अधिक व्यग्र थे।

अन्ततः, भद्रसेन ने कुंतल के सैनिकों को परास्त कर राजधानी की ओर खदेड़ दिया।

भद्रसेन युवराज कुमारगुप्त एवं अपने चारों वीर सैनिकों को लेकर सीमा प्रांत की ओर लपका। वे सभी वायु वेग से दौड़ रहे थे। उन्हें भय था कि वैजयन्ती पहुँच कर सैनिक सहायता सहित लौटेंगे।

किन्तु भद्रसेन ने अपने कौशल से अपने अन्यान्य सैनिकों को भी सीमाप्रान्तीय बन्दी-गृह से मुक्त किया और कुंतल सैनिकों को परास्त कर वह कुंतल की सीमा से सकुशल लौट गया।

× × ×

कुंतल की सीमा से दस योजन दूर आकर भद्रसेन ने संतोष की सांस ली और बोला—"अब कहो युवराज! हमने कितनी बड़ी भूल की। ललितांगी से मिलने के लिए हमें गुप्त रूप से कुंतल राजधानी में प्रवेश करना था। इतना दल-बादल लेकर जाने का स्पष्ट अर्थ था कि हम डंके की चोट पर कुंतल नरेश के अतिथि होकर जा रहे हैं और आतिथ्य हमें मिला भी। इतना बन्दी जीवन भी कहीं नक्षत्र में था। .....किन्तु परिस्थिति के अनुसार अब हम तुम्हें ललितांगी से बिना भेंट कराए पाटलिपुत्र नहीं ले जायेंगे।"

"वह क्यों ?"

"यों ही। तुम्हें अपनी वाग्दत्ता से भेंट करना है। करो। किन्तु

अब दो मार्ग हैं। एक तो महाकवि के आने की प्रतीक्षा की जावे और तब उन्हीं के साथ छद्म-वेश में राजधानी में प्रवेश किया जावे।"

"न·····न·····कभी नहीं ! महाकवि को यह लेश-मात्र भी ज्ञात नहीं होना चाहिए कि हमने कुंतल की ओर मुख भी किया था," युवराज ने अधीरतापूर्वक कहा।

"तब छद्म-वेश में पुनः कुंतल-प्रवेश हो। किन्तु इस घटना के अनन्तर तो कुंतल सीमायें अधिक जटिल कर दी गयी होंगी ·····।"

"भद्रसेन ! तुम्हारे इस कौशल ने हमें मुग्ध कर दिया।"

"क्या समझते हो मित्र ! उस गम्भीरता का ध्यान मुझे बाद में आया। हमारा एक भी मागध सैनिक कुंतल में नहीं रहना चाहिए था। यदि सुनते तो सम्राट् बहुत रुष्ट होते। हमें इस छद्म-व्यवहार की आवश्यकता ही क्या थी। हम तो कुंतल के जामातृ हैं। हमें सस्वागत कुंतल जाना है।·····और यदि तुम्हें या मुझे अपने को गुप्त रखना भी था तो इतनी भीड़ साथ ले जाने की क्या आवश्यकता थी। अस्तु, अब जो हुआ हो गया किन्तु मेरा अपना मत है कि हमें महाकवि के साथ ही कुंतल में प्रवेश करना चाहिए। वह सुगम रहेगा।

"किन्तु·····।"

"किन्तु क्या ? देखते तो जाओ महाकवि को भी यह ज्ञात न हो सकेगा कि हम उनके साथ हैं। और तब जानते हो महाकवि तो कुंतल में राज-प्रतिनिधि हो कर जा रहे हैं। कितना स्वागत होगा उनका ? ·····किन्तु क्या राज-प्रतिनिधि राज-जामातृ से भी अधिक महत्व रखता है ? देखा जामातृ का स्वागत," भद्रसेन हँसता रहा।

"देख लिया। जामातृ हो या कोई —इस प्रकार छिपकर जाने में विपत्ति की सम्भावना होगी ही," युवराज ने उत्तर दिया।

"तब किसने कहा है कि कुंतल पधारिये," भद्रसेन ने मुँह बिचकाते हुए कह डाला।

"मैंने।"

"तब ?"

"उसका प्रतिफल भोगा और अब फिर कह रहे हो कि छद्म-वेश में प्रवेश करो। ···बिना भेंट किये।"

"वह तो है ही," भद्रसेन बोला।

इस समय वे सभी कुंतल से विपरीत दिशा की ओर जा रहे थे। अब वे उस स्थान पर पहुँच गए थे जहाँ मागध युवराज का वैभव-सम्पन्न गज चार अश्वारोहियों की रक्षा में मस्त झूम रहा था।

"देखा युवराज ! इन महाकाय को यहाँ छोड़ कर हमने कितनी बुद्धिमानी की। अन्यथा यही होता कि वाह ! संगीताचार्य इस बार हाथी पर सोने-चाँदी की झूल डाल कर आये हैं।"

"किन्तु भद्रसेन ! यह संगीताचार्य क्या व्याधि है ?"

"महा भयंकर युवराज ! निदान रहित भयंकर व्याधि युवराज ! कोई उपचार नहीं·····कोई समाधान नहीं, भयंकर !"

"फिर भी।"

"सच, मैं नहीं जानता।"

"नहीं तुम जानते हो।"

"हाँ, इतना कि कुंतल में कोई संगीताचार्य थे जिन्हें निष्कासन का सुख प्राप्त हुआ·····हाँ, तो अब महाकवि की प्रतीक्षा करनी होगी। फिर वे ही महाकवि। मैं तो तंग आ गया इन महाकवि से। उनका क्या ? कहो उज्जयिनी में काव्य-विरचन करते-करते युग व्यतीत कर दें।"

तभी दूर से दो अश्वारोही उस ओर आते दिखाई दिये। वे उत्तर दिशा की ओर से आ रहे थे। सभी शान्त होकर उधर ध्यान देने लगे। अब तक सैनिकों ने अश्व खोल दिये थे। अपने-अपने वेश भी ढीले कर सभी उस वन-प्रदेश में वृक्षों की सुखद छाया के तले यत्र-तत्र घूम-फिर रहे थे।

युवराज एवं भद्रसेन एक पर्ण-बिछावन पर बैठे वार्तालाप में संलग्न थे।

"अरे ! मागध सैनिक ! हमारे सैनिक," भद्रसेन ने आगन्तुक सैनिकों को पहचानते हुए कहा।

तत्काल मागध सैनिकों ने युवराज तदनन्तर भद्रसेन को सैनिक अभिवादन किया।

"क्यों ?" भद्रसेन ने प्रश्न किया।

"महाकवि कालिदास का संदेश लेकर कुंतल जा रहे हैं।"

"महाकवि कहाँ हैं ?"

"उन्होंने उज्जयिनी से प्रस्थान कर दिया है," सैनिकों ने तत्परता-पूर्वक उत्तर दिया।

"कुछ पल विश्राम कर लो," भद्रसेन ने सैनिकों से कहा।

दोनो मागध सैनिक अपने साथियों की ओर बढ़ गये तथा उन्होंने भी अपने अश्व ढीले छोड़ दिये जो हरित दूर्वा में जुट गये।

भद्रसेन ने एक अर्थसूचक दृष्टि युवराज पर केन्द्रित की और बोला, "महोदय ! अब अपनी इस महान् सामरिक शक्ति को इस गजराज सहित विदा कीजिए और निर्देश दीजिए कि ये अमुक स्थान में हमारी प्रतीक्षा करें। महाकवि के इस ओर आते-आते,हमारा यह वैभव अदृश्य हो जाना चाहिये।"

× × ×

"क्यों मित्र ! पाटलिपुत्र जाते-जाते इधर ?" नवागन्तुक सैनिक में से एक सैनिक ने अपने साथी से प्रश्न किया।

"हाँ, भाई जानते नहीं युवराज·····।"

"जान गया—जान गया।"

२५

पिछली पंक्ति के जब सब अश्व-सैनिक आगे बढ़ गये तब दो अश्व झुरमुट से निकल कर राजपथ पर चुपचाप आ गये तथा वे भी श्रेणी के साथ हो लिये। पीछे के सैनिकों ने घूमकर देखा—ओह! युवराज तथा सैन्याधिकारी भद्रसेन।

ओष्ठ पर उंगली रखकर भद्रसेन ने अपने मागध सैनिकों को शान्त होने के लिये संकेत किया।

युवराज—भद्रसेन की इस युक्ति पर प्रसन्न हो रहा था। महाकवि का गज कम से कम एक सहस्र अश्वों की लम्बी पंक्ति के आगे था।

"युवराज! कुंतल में भी महाकवि को यह ज्ञात न हो सकेगा कि हम उन्हीं के साथ कुंतलेश के स्वागत का आनन्द ले रहे हैं," भद्रसेन बोला—"और इन अपने सैनिकों का क्या भय?"

"किन्तु कुंतल सैनिकों ने यदि हमें पहचान लिया?"

"असम्भव।"

"क्यों?"

"अब तो ललितांगी केवल आचार्य को ही पहचानेगी," भद्रसेन बोला।

"फिर वही आचार्य। यह है कौन?"

"व्याधि ।"

× × ×

और महाकवि कालिदास की सैन्य-श्रेणियों के साथ मागध युवराज कुमारगुप्त एवं सैन्याधिकारी भद्रसेन सानन्द वैजयन्ती पहुँच गये ।

सीमाप्रदेश से ही महाकवि का सत्कार प्रारम्भ हो गया था । अनेक स्थलों पर कुंतल सैनिकों ने महाकवि को सैनिक अभिवादन दिया । युवराज एवं भद्रसेन ने वह स्थान पहचाना जहाँ उन्हें बन्दी बनाया गया था । वह स्थान भी, जहाँ उन्होंने कुन्तल सैनिकों से युद्ध किया था ।

अब, इस समय महाकवि कालिदास कुंतलेश काकुस्थवर्मन के निकट थे और मागध सैनिक अतिथिशाला में । मागध के अश्व भी कुंतल के अश्वों से पृथक् वैजयन्ती का आतिथ्य स्वीकार कर रहे थे ।

महाकवि कालिदास को छोड़कर प्रत्येक मागध सैनिक यह जानता था कि उनका युवराज उनके साथ है । एक सैन्याधिकारी भी उनके समकक्ष ही अतिथिशाला में विराज रहा है । युवराज के साथ होने के कारण जो स्वाभाविक झिझक मागध सैनिकों में व्याप्त थी उसके कारण वे विवश—संयम को संभाले हुए थे । अन्यथा अपने युवराज के भावी-श्वसुर-गृह में आकर वे कितना आनन्द लेते, कितना उछलते । किन्तु अब वे स्वयं ही हैरान थे कि किस प्रकार युवराज पाटलिपुत्र जाते जाते इधर लौट आये । युवराज के साथ की सैन्य-श्रेणियाँ किस दिशा में हैं और इस प्रकार युवराज के यहाँ आने का कारण क्या है ?

कुछेक रसज्ञ सैनिक अन्तर्मन में जान रहे थे कि नारी का सौन्दर्य आकर्षण बड़ा विकट होता है ।

उधर भद्रसेन तो अपनी युक्तियों की सफलता पर प्रसन्न हो रहा था किन्तु युवराज कुमारगुप्त को अपनी स्थिति से ग्लानि हो रही थी । वह इस प्रकार अपने सैनिकों के समक्ष किसी रहस्यमय कार्य को

सम्पन्न करने में किंचित अपमान का अनुभव कर रहा था किन्तु भद्रसेन उसे लक्ष्य की ओर निरन्तर उन्मुख किये हुए था।

तभी भद्रसेन ने कहा—"युवराज ! अधीर न होना। मैं नगर-भ्रमण को जा रहा हूँ। लौट कर तुम्हारी भेंट आज ही व्यवस्थित करता हूँ।"

"तुम मूर्ख हो।"

"अभी समझौता मत तोड़ो अन्यथा हानि होगी। अभी तुम्हारी समस्त कला मेरे हाथ में है।"

"नहीं तो।"

"महाकवि·····।"

"कह दो।"

"जा रहा हूँ।" कह कर भद्रसेन अतिथिशाला से चल दिया।

भद्रसेन सम्पूर्ण दिवस कुंतल राजधानी में घूमता रहा और आचार्य के सम्बन्ध में क्षण-क्षण का ज्ञातव्य प्राप्त करता रहा। वह आचार्य के आश्रम में गया। वहाँ भी उसने उसी कथा को सुना जिसे इसके पूर्व वह सुन चुका था। वह इस सब में किंचित, सतर्क अवश्य था क्योंकि उसे उन पूर्व परिचित कुंतल सैनिकों का भय भी था किन्तु सन्तोष भी कि व्यवस्था में पता नहीं कौन सैनिक कहाँ संलग्न होता रहता है अथवा वे बन्दीगृह में पड़े सड़ रहे हों क्योंकि उनके हाथ से बन्दी भाग गये थे जो एक गुरुतर अपराध था।

अस्तु, आचार्य के आश्रम में ही भद्रसेन ने यह भी ज्ञात किया कि इसी कारण राजकुमारी ललितांगी ने शिव-मन्दिर न जाने का सत्याग्रह किया था जिस पर महाराज ने अनुनय सहित उसे शिवालय भेजा। अब, अमुक समय पर राजकुमारी शिव-मंदिर जाती हैं। उनके साथ उनकी सखियाँ होती हैं।

तब, ज्ञात कर वह उस शिवालय भी गया जहाँ कभी आचार्य

वन्दना-गीत गाते थे। जहाँ अब राजकुमारी ललितांगी दिवस में एक बार निश्चित समय पर जाती है। उसने पृथक्-पृथक् स्थलों पर खड़े होकर, पृथक्-पृथक् प्रस्तर स्तम्भों के सहारे से देखकर तथा पृथक्-द्वारों पर दृष्टिपात कर यह निश्चित करना चाहा कि युवराज को कहाँ से दिखाया जाय। कि युवराज को राजकुमारी कहाँ देखे।

किन्तु कुंतल सैनिकों से संघर्ष होने के अनन्तर उसे यह भय था कि कुंतल में अब व्यवस्था सम्बन्धी अधिक सतर्कता प्रयोग में आ रही होगी। यदि युवराज तथा आचार्य की आकृतियों में इतना साम्य है तो स्थिति सरल भी है और चिन्तनीय भी। उसे भी इतनी सतर्कता व्यवहार में लानी होगी कि कहीं कोई अरुचिकर-अशोभनीय परिस्थिति उत्पन्न न हो जावे।·····किन्तु युवराज और ललितांगी की भेंट अब परमावश्यक है।·····किन्तु स्थिति प्रिय नहीं है। यदि वास्तव में राजकुमारी के हृदय में प्रेमांकुर विद्यमान है तो राजकुमारी ललितांगी का दाम्पत्य जीवन भार हो जावेगा। तो कुमारगुप्त की इतनी अनुरक्ति पिस कर रह जायगी। परन्तु हो भी क्या? अब तो यही श्रेयस्कर है कि·····ललितांगी का अनुराग युवराज पर आरोपित किया जाय। भले ही उसमें हिमालय सा प्रयत्न करना पड़े।

इसके साथ ही युवराज को उस सबका आभास भी नहीं मिलना चाहिये अन्यथा वह अत्यधिक पीड़ा का अनुभव करेगा। ललितांगी के प्रति उसकी अनुरक्ति की गति विचित्र है। वह केवल आचार्य बना रहे इतना तो पर्याप्त है किन्तु यह कैसा अविश्वसनीय विश्वास है जिसमें युवराज ललितांगी की ओर भाग रहा है। कोई भी पुरुष किसी नारी की ओर वैसे में, दौड़ता जाता है। किन्तु इसी प्रकार के किसी विश्वास में नारी भी पुरुष के पीछे भागती जाती है। इस सब में ही एक का दूसरे की ओर विश्वास ही मूल है। तब उसे ध्यान हो आया अपनी पत्नी का—किसी विश्वास पर ही आज पाटलिपुत्र से शत-सहस्र योजन

दूर—वैजयन्ती में वह विचरण कर रहा है।.....यह सब ध्यान कर जैसे वह थक सा गया और एक भारी बोझ लेकर कुंतल की अतिथिशाला में लौट आया।

तब, यात्रा के श्रम से क्लान्त युवराज निद्रा-निमग्न था। अन्य मागध सैनिक कुंतल राजधानी का भ्रमण करने गये हुये थे।

राजमहालय में राज-प्रतिनिधि का भाँति-भाँति से सम्मान किया जा रहा था।

× × ×

तथाकथित वाल्हीक-प्रान्तीय सैनिकों के साथ आचार्य का कुंतल में प्रवेश, तब कुंतल सैनिकों से संघर्ष और तत्पश्चात् पलायन की चर्चा से कुंतलेश काकुस्थवर्मन में यह विश्वास जम गया था कि आचार्य निश्चित आया था किन्तु बन्दी बनाये जाने के अनन्तर भाग गया। सम्भवतः उसे यह आशा न थी कि वह बन्दी बनाया जायेगा। साथ ही कुंतल राजधानी में अब आचार्य को लेकर नाना प्रकार के अनुमान लगाये जा रहे थे। अब अतिरंजित रूप में राजकुमारी ललितांगी एवं आचार्य के प्रणय की चर्चायें हाट-चत्वरों में होती रहती थीं।

उधर, राजकुमारी सुदक्षिणा का विवाह अच्युत से हो गया था तथा उसे कहीं अन्यत्र भेज दिया गया था। उस राज-परिणय की सादगी पर भी वैजयन्ती में टीका-टिप्पणी होती रही।

आचार्य के आगमन, तदनन्तर उनके बन्दी बनाये जाने, तत्पश्चात् उनके पलायन का समाचार जब राजकुमारी ललितांगी को ज्ञात हुआ तो वह अत्यधिक खिन्न हुई। प्रथम तो उसने ध्यान किया कि ये राजकाज हैं, इसी प्रकार चलते रहते हैं किन्तु उसके अन्तर्मन को इससे सन्तोष न हुआ। हृदय आन्दोलित बना रहा। तब उसने विचार किया—आचार्य कुंतल से जाकर क्यों आये ? तब यह अपमान क्यों सहन किया ?

इस पर भी उसका अन्तर्मन निरन्तर यह कहता था कि आचार्य नहीं आ सकते। कोई अन्य होगा। ·····परन्तु राजकुमारी करती भी क्या ? जो समक्ष आता वही कहता–"आचार्य ही था। उसे पहचान लिया गया।" सर्वाधिक क्लेश ललितांगी को तब होता जब कोई आचार्य के प्रति अपशब्द कहता। स्वतः कुंतलेश काकुस्थवर्मन—उसके पिता—कहते।

इसके साथ ही वही शिवालय गमन की घटना घटित हुई। ललितांगी ने पिता के विरुद्ध सत्याग्रह प्रारम्भ कर दिया। पुत्री-स्नेह में कुंतलेश ने दो दिवस के पश्चात् अनुनय सहित कहा—"ललिते ! बन्दना को शिवालय जाओ··· ।"

और ललितांगी ने शान्तिपूर्वक शिव-मंदिर जाना प्रारम्भ कर दिया।

तभी उसने ज्ञात किया—मगध से राजप्रतिनिधि के रूप में महाकवि कालिदास कुंतल पधारे है। मगध के राजप्रतिनिधि के प्रति नहीं अपितु महाकवि कालिदास के प्रति उसकी आदरास्था जागृत हुई। उसने संकल्प किया कि वह उनसे भेंट करेगी। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के रचयिता से स्नेह-अनुराग की दो-दो बातें पूछेगी कि—'हे महाकवि ! बोलो, यह प्रेम क्या मन के त्रास का ही दूसरा नाम है अथवा शकुन्तला की भाँति अन्ततः कभी किसी को मिलन-सौख्य प्राप्त भी होता है। ·····तब हे महाकवि ! जीवन में यह मिलन-विरह, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद—यह सब है क्या ? क्यों है ? क्या जीवन की सरसता में जगत् को केन्द्रित कर यह विरह, दुःख, विषाद—ये शब्द-संस्कार-व्यवहार पृथक् नहीं किये जा सकते। क्या पूर्णता का अर्थ सार्थक करने के लिये ही मिलन के साथ विरह, सुख के साथ दुःख, हर्ष के साथ विषाद और जीवन के साथ मृत्यु जुड़े हुए हैं। तब क्या इस पूर्णता का—ईश्वर के समक्ष और कोई कार्यक्रम ही न था·····

अधीर मन—प्राण लिये ललितांगी प्रमदोद्यान की ओर जाने का ध्यान कर रही थी। इधर उसे राज-प्रासाद सूने-सूने से प्रतीत होते थे।

उनके वे श्वेत-धवल प्रस्तर उदासी में जैसे निद्रित से दीखते थे। वस्तुतः वैसा था भी। सुदक्षिणा अब वहाँ नहीं थी। उसका वह प्रासाद रिक्त ही सा था। सुदक्षिणा के उस प्रसंग के अनन्तर उसकी विमाता सौमित्रा ग्लानि की आवृत्ति सहित आवश्यकता से अधिक शान्त हो गई थी। महाराज्ञी अनन्तसेना महाराज के प्रासाद में व्यस्त थीं। महाकवि के स्वागत-सत्कार के जो विविध आयोजन हो रहे थे उनमें सर्वाधिक सुख-सन्तोष महाराज्ञी अनन्तसेना को ही हो रहा था, क्योंकि जिस दूरदर्शिता से उन्होंने सुदक्षिणा-अच्युत विवाह सम्पन्न कराया था उसके फलस्वरूप राजकुल की मान-प्रतिष्ठा तो बची ही थी साथ ही वह जो एक बवंडर वातावरण में व्याप्त था उसका शमन हो गया था तथा महाकवि के पधारते-पधारते कुंतल के राजप्रासाद में शान्ति विराज गई थी। इधर आचार्य के तथाकथित कुंतल प्रवेश से वातावरण पुनः उत्तेजित हुआ था वह राजप्रतिनिधि के आगमन के अनन्तर के स्वागत—समारोहों के आनन्द-उल्लास में परिवर्तित हो गया था।

हाँ, आचार्य के तथाकथित कुंतल प्रवेश से तीन व्यक्ति अधीर थे—कुंतलेश काकुस्थवर्मन, महाराज्ञी अनन्तसेना एवं सर्वाधिक ललितांगी। उधर कुंतलाधिपति एवं महाराज्ञी का ध्यान जब भी चला जाता था, एक पल को उनकी आत्मा में कंपन व्याप्त हो जाता था। वह प्रश्न ही वैसा था। मागध से पुत्री का परिणय-सम्बन्ध स्थापित करने के अनन्तर समाजगत मान्यता-मर्यादा के आधार पर पिता-माता को वैसी व्यग्रता स्वाभाविक थी। ललितांगी अपने हेतु नहीं आचार्य के हेतु चिंतित थी। वे न जाने किस गति-प्रगति में संलग्न होंगे? अकारण ही कहीं कष्ट सहन कर रहे होंगे·····

स्वागत-समारोहों में न उसकी रुचि थी न कोई विशेष प्रयोजना अतः वह शान्त मन लिये प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करने कानन की ओर जा रही थी तभी सुमाली तत्परतापूर्वक सामने आई।

"राजकुमारी, शिवालय जाने का समय हो रहा है।"

"ओह—हाँ," कहते हुए ज्यों अर्धनिद्रित सी ललितांगी लौट पड़ी।

दिनचर्या के अनुसार नगर की सामन्त कुमारियों का एक समूह राजकुमारी को शिवालय ले जाने के हेतु, नित्य ही निश्चित समय पर, उसके राजप्रासाद में एकत्र हो जाता था, तब सब मिलकर शिव-मंदिर की ओर प्रस्थान करती थीं। आज भी परम लावण्यमयी तरुणियों का वह समूह राजकुमारी ललितांगी को साथ लेकर शिवालय की ओर चल दिया। यों, इधर ललितांगी शान्त-गम्भीर होती चली जा रही थी किन्तु अपने सखि-समूह में वह यथावत् हँसती-बोलती चल रही थी।

संध्या लगभग होने को थी। अन्धकार घिरता आ रहा था। शिव-मंदिर के उस विस्तृत प्रांगण में सहस्र दीप-शिखाओं से प्रकट प्रकाश-ज्योति से वेदिका कोष्ठक जगमगा रहा था।

सभी रूपसियों ने शिव-मंदिर की वन्दना की और अपने-अपने भाल भूमि पर टेक दिये। ललितांगी अधिक विलम्ब तक मस्तक टेके बैठी रही। तभी आरती के घंटे बज गये और आरती होना आरम्भ हो गई। राजकुमारी का यह तरुणि-समूह सदैव ही कुछ एकान्त में दर्शन-वन्दना करता था। आरती-कोष्ठक से दूर हट कर कोष्ठक के पूर्वामुख रजत-द्वार के सम्मुख हो रही थी।

न जाने किस दीर्घ प्रार्थना में लीन राजकुमारी ललितांगी अपना मस्तक भूमि पर टेके बैठी थी और साथ की किशोरियाँ आरती लेने के हेतु मुख्य भट्टारक की ओर बढ़ रही थीं।

तभी अनायास राजकुमारी के कानों में आकाशवाणी का सा शब्द गूँजा, "आचार्य !"

शब्द किधर से आया, किसने कहा इसका ध्यान न कर ललितांगी की दृष्टि हठात् ललक में समक्ष जो केन्द्रित हुई तो उसने देखा उन सहस्र-दीप-शिखाओं की लौ में आचार्य की आकृति का एक धुंधला सा रूप कोष्ठक के उत्तर द्वार पर दर्शन कर पीछे हटता जा रहा है।

ललितांगी ने अपने नेत्र मूंद कर पुनः खोले तो देखा वह आकृति वहाँ से विलीन हो गई थी। तभी ललितांगी व्यवस्थित हो कर भूमि पर से उठ खड़ी हुई। तत्क्षण निकट से एक व्यक्ति चुपचाप—"आचार्य !" कहता हुआ दूसरी ओर निकल गया।

ललितांगी की दृष्टि पुनः उलझी तो उसने ध्यान किया—कोष्ठक से कुछ दूर प्रस्तर-स्तम्भ के पीछे आचार्य-सदृश मुखाकृति का एक व्यक्ति सम्भवतः आचार्य ही खड़े हैं और अपलक उसकी ओर देख रहे हैं।

निकट से, "आचार्य !"—कहते हुए निकलने वाला व्यक्ति भद्रसेन था।

दो ओर आचार्य को देखकर ललितांगी अस्थिर हो उठी। तब आचार्य इस निर्भीकता-पूर्वक शिवालय आ गये। तब वे क्यों आये। उन्हें कोई देख लेता तो।

२६

शिवालय से लौट कर ललितांगी के नेत्रों में आचार्य की ही मूर्ति नर्तन करने लगी। उसे निश्चित विश्वास हो गया—आचार्य कुंतल में ही हैं। वे राजधानी में ही हैं। वे निश्चित ही शिवालय में थे।

रात्रि छिटकी हुई थी। तारक-मण्डल की ज्योति धीमी थी। शशि-कला भी मंद सी, थकी सी, कहीं दूर आकाश में दिखायी दे रही थी। मास का कृष्ण-पक्ष चल रहा था। ललितांगी हृदय की अस्त-व्यस्तता में ज्यों ग्रीष्म के उत्ताप से उत्तप्त—सुखद समीर का आनन्द लेने के ध्यान में प्रासाद की उच्चस्थ अट्टालिका पर जा खड़ी हुयी। उसने देखा—सामने पिता जी के प्रासाद में संगीत आयोजन चल रहा था। सुमधुर स्वर लहरी सर्वत्र गूँज रही थी। वाह्य प्राँगणों एवं प्रवेश-द्वारों पर सतर्क प्रहरी डटे हुए थे। रात्रि में आयोजित संगीत समारोह के कारण प्रासाद में सर्वत्र अत्यधिक चहल-पहल थी तथा व्यवस्थापक जन इधर-उधर व्यस्तता में भाग-दौड़ रहे थे। संगीत-समारोह के कारण अन्य प्रासादों के दास-दासियाँ भी काम निकाल कर महाराज के प्रासाद में ही टहल रहे थे। महाराज्ञी अनन्तसेना महाराज के प्रासाद में ही थीं और उन्होंने ललितांगी को दो बार बुलाने भी भेजा किन्तु ललितांगी

मस्तक-पीड़ा कह कर नहीं गयी। वास्तव में वह झूठ नहीं बोली। वह प्रयत्न करके अपने माता-पिता से झूठ नहीं बोलती थी। वह अपनी माता अनन्तसेना को अत्यधिक स्नेह करती थी। इस समय मस्तिष्क के बोझ से उसके मस्तक में सचमुच पीड़ा हो रही थी। तभी वह शान्त्यर्थ अट्टालिका पर गयी थी। तभी सुमाली भी ऊपर आयी और उसने अति शीघ्रता में ललितांगी से कहा—"राजकुमारी ! आचार्य !"

"कहाँ ?"

"वह सामने प्रमदोद्यान में—एक वृक्ष के निकट खड़े हैं।···"

"किन्तु, सुमाली ! आचार्य ऐसे क्यों आये हैं ? वे ऐसे क्यों मिलना चाहते हैं ?"

"राजकुमारी तुम इतनी अबोध हो?" सुमाली ने जल्दी-जल्दी साँस खींचते हुए कहा जैसे वह कोई अपराध कर रही हो।

"किन्तु·····तू कहना क्या चाहती है सुमाली।"

"यही कि तर्क-वितर्क में समय नष्ट मत करो। सभी राज-प्रतिनिधि के स्वागत में आयोजित संगीत-गोष्ठी में व्यस्त हैं।·····किसी प्रकार आचार्य पधार गये हैं।·····राजकुमारी अपने आपके प्रति विश्वास मत खोओ। मैं तुम्हारी व्यग्रता-अधीरता को जानती हूँ। वह तुम्हारी ही नहीं, वह प्राकृतिक है राजकुमारी।·····ललिते ! आचार्य ने उसी प्रकार, इस निर्जनता, इस एकान्त में तुमसे भेंट करने की इच्छा प्रकट की है। ललिते ! मिलो। वह अमित मिलन होगा।"

"तू पागल हो गयी है सुमाली। तेने आचार्य को वर्जित नहीं किया। तेने उनकी वैसी बात सुनी ही क्यों। उसका खण्डन क्यों नहीं किया ? तब मुझसे कहने क्यों आयी ? मुझसे·····," उन्मादिनी सी ललितांगी अपने पलक मूँदे कहती ही चली गयी। उसकी श्वास-गति तीव्रतर हो रही थी।

"ललिते ! मेरी ललिते ! तर्क मत करो।·····विलम्ब मत करो।

·····देखो। वे लौटे·····," सुमाली ने ललितांगी को उँगली के संकेत से उस अंधेरे में दिखाया। कोई छाया पीछे हट रही थी।

"तब सुमाली·····तब," कहते हुए ललितांगी ने सुमाली को कस कर पकड़ लिया।

"मेरी सखि!"

"....."

"मैं अभी आयी राजकुमारी," कहते हुए सुमाली झपटते हुए अट्टालिका से नीचे उतर गयी।

× × ×

एक पुरुष आया। एक पल को वह उस नारी के समक्ष खड़ा हुआ। वह उसे अपलक निहारता रहा। वह विनत ग्रीवा सहित भूमि पर दृष्टि गड़ाये खड़ी रही। वह आगे बढ़ा।

सर्वत्र निविड़ अन्धकार छाया हुआ था। आकाश-पाताल शून्य थे। मन्द समीर भी बन्द हो गया था। उस विशिष्ट प्रासाद के कुछेक दीप दासी ने बुझा दिये थे।·····निकट ही प्रकट होती संगीत की ध्वनियाँ कर्ण-कोरों को उद्विग्न कर रहीं थीं।

उस पुरुष ने नारी को आलिंगन-पाश में आबद्ध किया। नारी मौन खड़ी रही। वह उसकी स्वीकृति थी। पुरुष तब और आगे बढा। उसने उसका मुख चूम लिया। न जाने कितने चुम्बन ओठों, कपोलों, मस्तक पर स्थिर कर दिये। वह पलक मूँदे निश्चल-निर्वाक् खड़ी रही।

पुरुष को शीघ्रता थी। वह सब शीघ्रता में, मिलन की न जाने किस-किस गति-विधि को परिपूर्ण करने की तेजस्विता में था। उत्तेजना में था।

दिशायें सूनी थीं। किन्तु पुरुष नारी में एक साथ अतिरेक भरता-बढ़ता चला जा रहा था। रक्त-संचार·····अनियन्त्रित हो रहा था।

पुरुष-नारी, दोनों निर्वाक् थे। ओष्ठों व भुजाओं ने वाणी के शब्द रोक रक्खे थे।

तभी शब्द गूँजा, "प्रिये!"

नारी चौंकी किन्तु पलक मूँदे, ग्रीवा लटकाये शान्त खड़ी रही—निश्चल।

"यह मिलन, अधूरा है," पुनः शब्द प्रकट हुए।

"·····।"

"शीघ्रता करो। शयन-कक्ष किधर है···?"

"·····।"

"शीघ्रता करो," कहते हुए वह उस कोमल कर को हाथ में लेकर सीढ़ियों से उतर आया। वह, सहगामिनी, मौन—निःशब्द साथ होली।

"चलो। शीघ्रता करो···।"

तब वह आगे हो गयी। बढ़ गयी। शयन-कक्ष के द्वार पर अवश, आ खड़ी हुई।

उसने कक्ष में प्रवेश किया। उसका कोमल कर अपने हाथ में लेकर उसे उसने अन्दर ले लिया।·····तब वह घूमा। उसने बढ़कर द्वार बन्द कर दिया।

पर्यङ्क पर दो प्राणी एक प्राण हुये।

थका सा वह उठा। चल दिया।

"पुनः आऊँगा। मेरी प्रतीक्षा करोगी न।"

इसके अतिरिक्त वहाँ कुछ न था। कोई शब्द कोई वाक्य।

थकी सी, विमोहित सी वह पर्यङ्क पर लेटी रही। विदा के हेतु वह उठी भी नहीं।

प्रतीत हुआ। जैसे वह सब कुछ, तन की किसी उत्तेजना में परिपूर्ण हो गया। उसे वह कुछ अधिक प्रिय नहीं लगा।

दूर—एक व्यक्ति प्रासाद के प्रवेश द्वार से कुछ दूर खड़ा था। वहीं वह पुरुष गया और दोनों आगे बढ़ गये।

सुमाली सब व्यवस्थित देख कर—शान्त सी, आनन्दित सी, शयन-कक्ष की ओर चल दी। किन्तु उसने देखा शयन-कक्ष के कपाट अन्दर से बन्द थे। वह उस पुरुष को बाहर जाते हुये पहले ही देख चुकी थी।

× × ×

तभी एक व्यक्ति—कोई अन्य—राजकुमारी ललितांगी के प्रासाद के पार्श्व में, दूर बहुत दूर परिकोटरे के निकट, खड़ा-खड़ा लौट गया।

ललितांगी का अन्तर्मन, बारम्बार, कह रहा था। ये आचार्य! ये आचार्य नहीं हो सकते।·····किन्तु नहीं वे आचार्य ही थे।

पुरुष! नारी!

२७

उस प्रभात—

ललितांगी का अंग-अंग चूर था। मन कराह रहा था। उसे लग रहा था—रो लेवे।

युवराज कुमारगुप्त विजयी सा भद्रसेन को अनेक बार दुलराता प्रसन्न होता हुआ बोला—"भद्रसेन! अविलम्ब पाटलिपुत्र प्रस्थान कर दो।"

"हां!" कहते ही युवराज एवं भद्रसेन ने अपने-अपने अश्व पूर्वोत्तर दिशा की ओर छोड़ दिये।

कुंतल राजधानी वैजयन्ती रात्रि के संगीत-समारोह के अनन्तर कहीं उल्लसित, कहीं थकित सी शान्त थी।

तभी एक पान्थशाला से अर्ध-विक्षिप्त सा एक व्यक्ति निकला और राजमार्ग में निर्भय हो चल दिया।

यह आचार्य था।

सम्पूर्ण राजधानी राज-प्रतिनिधि की चहल-तहल में आचार्य को जैसे भूली हुई थी। आचार्य को तब अनायास चेत हुआ। ओह! यह वैभवशालियों की नगरी है। वह तब एक संकरी बीथी में चलने लगा

और चलते-चलते अदृश्य हो गया। उसने अन्ततः कुंतल सदा सर्वदा के लिए छोड़ दिया।

विगत रात्रि शिवालय तथा राजकुमारी ललितांगी के प्रासाद के पार्श्व में दर्शन की अभिलाषा से वह गया था। वह उसी दिन राजधानी में आया था। तभी उसने देखा था—एक पुरुष अट्टालिका पर राजकुमारी के निकट है अन्धकार में भी दृष्टि, वह देख गयी थी।

वहीं से आचार्य लौट आया। अब वह अन्तरिक्ष की ओर जा रहा था। विलीनता में विलीन होने जा रहा था। उसे ललितांगी के अन्तर्दाह का भी ध्यान न था।

आचार्य गया। अन्तिम रूप से चला गया। वह यह सुन कर ही आया था कि कुंतल में आजकल बड़े समारोह हो रहे हैं। उसने तब ध्यान किया था—सम्भवतः राजकुमारी का पाणिग्रहण परिपूर्ण हो रहा हो।

किन्तु—

उसे कुछ और देखना पड़ा। उसे जाना पड़ा।

× × ×

ललितांगी ध्यान कर रही थी—उस पुरुष सहवास की बात। विचारते ही उसका मन जैसे घृणा से भर गया। वह आन्दोलित हो उठी। उसने अब ध्यान किया—अब किसी अन्य पुरुष से विवाह का प्रश्न ही क्या है? उसने सुमाली को पुकारा।

सुमाली आयी। वह सुमाली से लिपट कर रो ली। रोती रही। तब सुमाली सोचती रही—वह कैसा मिलन था। उसके पश्चात् आनन्द नहीं। हर्ष, उल्लास नहीं। उसके विपरीत यह रुदन।

तभी तीव्रता-पूर्वक ललितांगी ने कहा—"सुमाली! तू नीच है। तेरा आचार्य नीच है।·····जा निकल जा यहाँ से।"

और तब ललितांगी पर्यङ्क पर उर्ध्व होकर, धम्म से पड़ रही। वह कब तक निरीह रुदन करती रही, उसे स्वयं ज्ञात नहीं था।

तभी कहीं से मिलने के हेतु महाराज्ञी अनन्तसेना ललितांगी के शयन कक्ष की ओर आयीं।

उन्होंने देखा—पुत्री रुदन की आवृत्ति में सिसक रही है। "क्या हुआ ललिते!" माँ ने सस्नेह अपना हाथ ललितांगी के मस्तक पर रख कर कहा, और पर्यङ्क पर बैठ गई। ललितांगी उठ बैठी और निर्वाक्, अनिमेष माँ को निहारती रही। तब अनायास उसने माँ के गले में अपनी बांहें डाल दीं और अपने आंसुओं से माँ का आँचल भिगोने लगी।

"क्या हुआ ललिते।"

"....."

"बोलो।"

"....."

"प्रातःकाल ही रुदन का क्या कारण सम्भव है ललिते?"

"माँ—मगध युवराज अब मेरा पति नहीं हो सकता। अब कोई भी मेरा पति नहीं हो सकता। मैं—विवाह नहीं करूँगी, माँ।"

पुत्री का रुदन देख कर अनन्तसेना विचलित हो उठीं किन्तु तत्काल अपने को संयत करते हुये बोलीं—"तुम्हारा यह विचार अशुभ-अप्रिय है पुत्री। तुम चाहोगी तब भी अब तुम्हारी यह मांग अपूर्ण ही रहेगी।"

"माँ।"

"मैं विवश हूँ। तुम्हारा विवाह अटल है।"

और ललितांगी—पूर्ववत् उर्ध्व मुख करके पर्यङ्क पर लेट गयी।

सम्राज्ञी अनन्तसेना बैठीं और चल दीं।

× × ×

"पिता जी!"

"यह कैसे सम्भव है, पुत्री ! अब इस परिस्थिति में क्या मैं मगध की सेनाओं का आह्वान करूं ? सारे जगत को एक प्रदर्शन दिखाऊं ?"

और ललितांगी की बात किसी ने नहीं सुनी । स्वजन-परिजन जैसे सब निर्मोही हो गये ।

× × ×

तब ललितांगी मगध के राज-प्रतिनिधि महाकवि कालिदास के निकट गई ।

मगध की भावी राज-महिषी की सौन्दर्य-रेखा देखकर महाकवि कृत-कृत्य हो गये । कुंतल राज-प्रासाद के विशिष्ट-कक्ष में महाकवि स्वर्ण-पर्यङ्क पर विश्राम कर रहे थे । वे तत्काल पर्यङ्क पर से उठ खड़े हुए ।

"कदम्ब-कुल श्रेष्ठा राजकुमारी ! आसन पर विराजो ।"

ललितांगी निकटस्थ स्वर्ण-पीठिका पर बैठ गयी ।

"तुम्हें साहित्य से स्नेह है ।"

"हाँ, महामान्य !"

"संगीत से ?"

सुनते ही राजकुमारी चौंक गई । वह निर्वाक् रह गई । जैसे सन्न ।

तब विक्षिप्त सी वह अनायास कह गई—"कभी नहीं, कदापि नहीं । नहीं ! नहीं ! नहीं !"

महाकवि हैरान थे । ललितांगी का वैसा उत्तर सुनकर महाकवि विस्मय में एक क्षण कुंतल राजकुमारी को निहारते रहे तब नत ग्रीवा सहित वे दूसरी स्वर्ण-पीठिका पर बैठ कर विचार-मग्न हो गये ।

कुछ ध्यान कर वे बोले—"पुत्री ! क्या संगीत...?"

"नहीं महाकवि नहीं, नहीं । संगीत नहीं संगीताचार्य..." कहते-कहते ललितांगी पर जैसे पक्षाघात का प्रहार हो गया हो । वह भयातुर दृष्टियों में महाकवि को देख गयी और अनायास पुकार उठी—

"महाकवि !"

निकट ही सुमाली—आदेश की प्रतीक्षा में ही ज्यों खड़ी थी। महाकवि ने उसे सम्बोधित कर कहा—"राजकुमारी, इस समय स्वस्थ चित्त नहीं हैं। इन्हें ले जाकर विश्राम कराओ। मैं, आकर स्वयं भेंट कर लूंगा।"

"नहीं, महाकवि ! मैं पूर्णतः स्वस्थ हूँ। मुझे क्षमा कर दें। मैं आपसे एक शंका का समाधान करने आयी हूँ। आपका अभिमत जानने। आप एक महाकवि हैं। साहित्य सृजेता से अधिक दर्शन-वेत्ता। आप—आप मुझे बतावें कि पुरुष—नहीं—नारी, स्नेह की वस्तुयें हैं अथवा इन्द्रिय-क्रीड़ा की ?"

"दोनों।"

कहने को तो महाकवि कह गये किन्तु एक पल को कांप गये। वैसे अप्रत्याशित प्रश्न की कभी वे स्वप्न में भी कल्पना नहीं करते थे।

"महाकवि ! मेरे प्रश्नोत्तर का कोष समाप्त हो गया। अब मुझे मागध युवराज से विवाह करने की स्वीकृति देनी है। पिता जी को, मां को—सबको।"

"पुत्री, तुम्हारा हृदय···।"

"शान्त है महाकवि," कहकर ललितांगी ने महाकवि कालिदास के शब्द काट दिये।

× × ×

मगध सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने प्रथम तो अपनी पुत्री प्रभावती का विवाह बरार के वाकाटक नरेश रुद्रसेन से सम्पन्न किया तदनन्तर युवराज कुमारगुप्त का विवाह कुंतल राजकुमारी ललितांगी से सम्पन्न हो गया।

पुरुष के प्रति घोर अनास्था में, बन्धु-बान्धवों, माता-पिता के प्रति महान असन्तोष में, अपने प्रति भयंकर ग्लानि एवं आचार्य के प्रति

महान् तिरस्कार में ललितांगी ने मगध राज-प्रासाद के भव्य प्रांगण में प्रथम पग-निक्षेप किया। सुमाली इस समय भी उसके साथ थी। सुमाली ही संसार में अब ऐसा एकाधार थी जिस पर उसका समस्त उदार-स्नेह केन्द्रित हो गया था।

परिणय-संस्कार के अनन्तर मगध राजधानी पाटलिपुत्र में अहर्निशि समारोह होते रहे। विवश ललितांगी ने उस सब में भाग लिया—लेती रही। पाटलिपुत्र के राजमार्गों, हाटों को सजाया गया। राज-प्रासादों की अवर्णनीय सजावट में ललितांगी का हृदय वज्र-धारण कर रुदन को पीता रहा।

पाटलिपुत्र में अनेक दिवस तक दीपावली मनायी गयी। समूचे नगर में युवराज के विवाह के आनन्द में नर-नारी उत्साहित बने रहे। राज-प्रासादों के एक-एक कोण दीप-शिखाओं से आलोकित कर दिये गये।

किन्तु प्रतिपल ललितांगी को ध्यान बना रहा नारी के उस रूप का जिसमें सब गोप्य है। उस पुरुष का जो गोपनीय से लाभ उठाता है। नारी के उस रूप का जिसमें चाह कर भी वह विश्वास स्थिर नहीं रख पाती तब उसके खोजने पर वह कहाँ खो जाती है—उसे स्वयं पता नहीं रहता। तब उस विश्वास को टिकाये रहने में ही उसके जीवन के अस्तित्व की धुरी टिकी रहती है। हट भी जाती है।

तब ललितांगी सोचती रही—स्नेह यदि ऐसा है तो थोथा है। सदैव थोथा रहेगा'''अपूर्ण। किन्तु प्रेम में कैसी पूर्णता की आवश्यकता है—वह उसे स्वयं ही अज्ञात है, अन्यथा आज वह उस स्थिति में न होती जिस स्थिति में है।

जो हो—उसे मगधराज-महिषी होना था। वह हो गयी।

× × ×

तब वह मधुरात्रि आयी।

मधुरात्रि के विशेष-आयोजन किये गये। युवराज कुमारगुप्त को संस्कारित किया गया। सम्पूर्ण राजमहालय उत्कंठा—उल्लास से उमगा-उमगा बना रहा ज्यों प्रत्येक की ही आज मधुरात्रि हो।

किन्तु ललितांगी का अन्तर्मन घृणा से, आत्म-ग्लानि से भरता चला जा रहा था। इस पर भी उसके समक्ष जीवन की प्रत्येक क्रिया सम्पूर्ण हो रही थी और वह निःशब्द सब देख रही थी। अनुभव कर रही थी।

तब वह क्षण भी आया।

युवराज कुमारगुप्त ने उसे अंक में भर कर पर्यङ्क पर लिटा लिया। उसका मुख चुम्बनों से आरक्त कर दिया। युवराज उस क्षण संसार में दिग्वजयी—सर्वाधिक सुखी था।

किन्तु उस पल ललितांगी के अन्तराल में आत्म-ग्लानि की हिलोरें उठ रही थीं। उसे उस अन्धकारमयी रात्रि का ध्यान आ रहा था जब कोई पुरुष—आचार्य।

और ललितांगी यथावत् अपने नेत्र मूँदे पड़ी रही।

"प्रिये! क्यों आज वैसी लाज क्यों? वैसी हिचक क्यों? ये नेत्र आज भी क्यों मूँदे हुये हो? आज उस दिन की सी शीघ्रता भी तो नहीं है···।"

ललितांगी झपट कर सीधी बैठ गयी। उसने चाहा वह पूछ ले—"किस दिन की सी···।

किन्तु युवराज ने स्वयं कह दिया—"हृदयेश्वरी! वह तुम्हारे पिता का गृह था। वहां उस छिपाव में।"

ललितांगी सब कुछ समझ गयी। उसे अपार सन्तोष हुआ। तब वह—उस रात्रि वह पवित्र आचार्य नहीं था। वह आज भी पवित्र है।

अनायास ही—ललितांगी की ज्यों मान्यता ही परिवर्तित हो

गयी। वह प्रसन्न हो उठी। तब जिस काम से वह घृणा का, आत्म-ग्लानि का अनुभव करती थी—उसमें भगवान् ने उसे बचा लिया।

तब, उसकी उदासी दूर हो गयी। वह मगध युवराज कुमारगुप्त के वक्ष पर सर रख कर लेटी रही। किन्तु उसकी स्मृतियों में एक आकृति नर्तन कर उठी और उसने प्रथम बार पलक मूँद कर ध्यान किया—आचार्य एवं युवराज की आकृतियों में कैसा साम्य है ?

उपसंहार

जब पान्थशाला में पर्याप्त प्रकाश कर दिया गया और युवराज कुमार गुप्त का बिछावन उठाया जाने लगा तब युवक पथिक ने देखा कि जो राज्याधिकारी वृद्ध पथिक पर बहुत रोष प्रदर्शित कर रहा है उससे उसकी आकृति में अत्यधिक साम्य है। प्रतीत होता था दो युगल-जन्मा भ्राता हों।

तभी उसने ध्यान किया उस अधिकारी के साथ में जो व्यक्ति है वही कुछ संयम तथा शान्ति से कार्य कर रहा है अन्यथा दोनों पथिकों पर आपत्ति आते देर न लगती।

अधिकारियों का वह दल तो चला ही गया किन्तु उसके अनन्तर वृद्ध ने मागध महाराज्ञी ध्रुवस्वामिनी एवं सम्राट् चन्द्रगुप्त को लेकर जो कथा व्यक्त की उससे युवक किंचित विचारमग्न हो रहा था। वह युवक कोई अन्य नहीं आचार्य धनञ्जय ही था जो अपना आचार्य पद कुंतल की सीमाओं में ही छोड़ आया था और साथ लाया था एक स्मृति जो उसे प्रेरित कर रही थी कि वह अर्थ की तुला पर ऐसा पद प्राप्त करे कि जीवन में किसी ओर से परतन्त्र न रह सके। उसमें कुछ ऐसी प्रतिक्रिया ही व्याप्त हो गई थी। वह मागध होते हुये मगध राज्य का प्रजाजन नहीं रहना चाहता था। वह कुंतलेश के उस अधिकार के उद्घोष

को भी तिरस्कृत कर आया था—"आचार्य ! मुझसे भेंट करके तब आगे·····राजकुमारी ललितांगी का अध्यापन प्रारम्भ करना ।"

वह सामाजिक अथवा वैयक्तिक संकोच के उस मान्यता प्राप्त अथवा आस्था प्राप्त प्रचलन को टूक-टूक करना चाहता था जिसके आधार पर उन विगत दिवसों में नहीं, अनेक मास में भी राजकुमारी का—एक नव-यौवना का—सम्मोहन वह प्राप्त न कर सका। क्योंकि उसकी अपनी धारणा थी कि यदि समाज की मान्यताओं अथवा आस्थाओं की औपचारिकता का निर्वाह उनके मध्य न होता तो एक नवयुवक—एक नवयौवना, निर्जनता पाकर भी आत्म विभोर न हो जाते; यह असम्भव था। वे अवश्य होते।

अस्तु, उसे कुछ ऐसी व्यवस्था का नया रूप प्रचलित करने की संयोजना करनी थी जिस आधार पर ये निरर्थक अंकुश नष्ट हो जावें। उसे किसी राजकुमारी को प्राप्त करने के हेतु क्या कुछ, बहुत कुछ करना होगा। केवल संगीत के माध्यम से वह कहीं प्रवेश पा सकता था—उसने पा लिया। तदनन्तर के अधिकार के हेतु उसे वैभव-धन-सम्पत्ति की तुला पर तुलना होगा। वह तुलेगा। और यही ध्यान कर वह कुंतल से चल दिया था।

कुंतल राज-प्रासाद में ही उसने सुना था कि उसके प्रणय की आराधना का आरोपण मगध के राज-महालय के विलास-वैभव में सीमित हो चुका है। उसे यह ज्ञात था कि आज वह जिस प्रतिमा का पुजारी हो चुका था उस प्रतिमा को, वैवश्य में, किसी अन्य की पूजा करने का प्रयास करना होगा।

तब उसे जीवन के इस क्रम का विरोध करना होगा। वह इस सब व्यवस्था के प्रति विद्रोह करेगा। किन्तु उसका अस्तित्व ही क्या है ? तब, उसका ध्यान था, अस्तित्व का बनाना—मिटाना व्यक्ति के अधिकार में हैं।

इस प्रकार की अनिश्चितता में वह रात्रि में गमन करता और दिन में कहीं न कहीं विश्राम कर लेता था। रात्रि-गमन का कारण यह न था कि उसे यह ज्ञात हो गया था कि उसे कुंतल राज्य की कोई राजाज्ञा प्राप्त हो गयी थी, अपितु ग्रीष्म के उत्तपन को, गमन में, वह राजपथ के शीतल-मन्द समीर से शान्त करता था।

और तब उस पान्थशाला में उस समाकृति के चले जाने के अनन्तर प्रातःकाल जब उसे ज्ञात हुआ कि वह वही व्यक्ति था, वह वही युवराज था, वह वही मागध राजकुमार था जिसके जन्माङ्कों ने ललितांगी की प्राप्ति की रेखायें खींच दी हैं। और तब धनञ्जय का मनोद्वेलन····· उद्रेक में बड़ी तत्परता पूर्वक वह सब कुछ सुन लेना चाहता था जो मागध-राज-कुल के विपरीत था।

किन्तु यों उसकी आस्थाओं की कसौटी पर उसे दिख रहा था कि कभी चाणक्य ने कितना उपयुक्त ही प्रकट किया था।

एकस्मिन् यत्र निधने प्रापिते दुष्टकारिणि।
बहूनां भवति क्षेमः सर्वे पुण्य प्रदोवधः।

यदि एक दुष्ट, निरर्थक अथवा पापी को मार देने से बहुतों का कल्याण हो तो वह वध रूपी कार्य पुण्य को देने वाला होता है। राज-नीति के आधार पर मगध के लिये रामगुप्त एक निरर्थक व्यक्ति ही नहीं घातक एवं हानिकारक सिद्ध हो रहा था। अतः बहूनां भवति क्षेमः, के आधार पर चन्द्रगुप्त का वह कार्य न्याय-नीति संगत था। और तब सर्वा-धिक क्षेम चन्द्रगुप्त को अपनी देखनी थी। वह स्वार्थ ही था किन्तु अपनी मनस्तृप्ति के हेतु उसे किसी भी मूल्य पर ध्रुवस्वामिनी को प्राप्त करना था·····तब धनञ्जय विचारता चला गया—अपने अभीष्ट की प्राप्ति के हेतु प्रत्येक कृत-कर्म युक्ति-संगत ही नहीं, न्याय-संगत भी होते हैं। वे होंगे। मैं भी·····विचारते हुए ज्यों अन्तर्मन में वह कुछ संकल्प बांधता गया।

उस वृद्ध पथिक के आग्रह पर वह उसके निवास पर गया और वहाँ जो उसने उसकी पुत्री को देखा तो हतप्रभ रह गया। उसकी आकृति में भी ललितांगी से अत्यधिक साम्य था। तब वह ध्यान करने लगा—विचित्र प्रसंग है मेरी आकृति कुमारगुप्त व ललितांगी की आकृति अलका से कितनी मिलती है।

तभी वृद्ध पथिक से पुनर्वार आने का वचन देकर धनञ्जय वहाँ से विदा हुआ। उस ग्राम्य-पान्थशाला में उसे ज्ञात हो गया था कि मागध युवराज अपनी भगिनी का लग्न—प्रस्ताव लेकर बरार के वाकाटक नरेश रुद्रसेन के यहाँ गया है। साथ ही मागध युवराज को देखकर उसमें न जाने किस प्रकार की प्रतिक्रिया भी जागृत हुई थी। अपने सम्पूर्ण तर्कों सहित वह सम्राट् चन्द्रगुप्त के विगत कार्यों को अपने अनुसार न्याय-संगत मान रहा था। किन्तु अपना स्वार्थ भी सर्वाधिक न्याय-युक्त था। उस आधार पर उसने ध्यान किया कि कुमारगुप्त के माता-पिता से सम्बन्धित प्रसंग को दोष का अतिरंजित रूप देकर किसी प्रकार कुंतल राजकुमारी के सम्मुख प्रकट किया जावे। अस्तु, धनञ्जय ने कुंतल की ओर पुनर्गमन किया।

पैदल यात्रा करते-करते जब धनञ्जय कुंतल राजधानी वैजयंती पहुँचा तब वहाँ मागध राज-प्रतिनिधि का स्वागत हो रहा था। प्रातःकाल से लेकर रात्रि तक स्वागत-समारोहों की बाढ़ आयी हुयी थी। महाकवि के स्वागत में कवि सम्मेलन, संगीत सम्मेलन आयोजित किये गये थे।

धनञ्जय ने ध्यान किया; वैजयंती के नागरिक जैसे किसी विशेष प्रकार के उत्सव में संलग्न थे। सर्वत्र ही मागध राज-प्रतिनिधि की चर्चा थी। वैजयंती के हाटों में वार्तालाप का एक ही विषय था—मागध राज-प्रतिनिधि। वस्तुतः, उस राज-प्रतिनिधि में एक विशेषता थी कि वह उस युग का सर्वश्रेष्ठ कवि था—महाकवि कालिदास।

अस्तु, उस व्यस्तता में धनञ्जय स्वच्छन्दता पूर्वक कुंतल राजधानी के राज मार्गों में विचरण कर एक पान्थशाला में टिक गया।

धनञ्जय के वैजयंती आने का उद्देश्य क्या था, यह उसे भी अज्ञात था। वह वहाँ क्या करेगा, उसे पता नहीं था। अन्तर्मन में एक प्रेरणा जागृत हुयी और वह कुंतल की ओर चला आया था। अब वहाँ तक तो वह निरापद रूप से चला आया। आगे आपत्ति घेरे खड़ी थी। वह राजमहालय के परिकोटरे के निकट भी नहीं जा सकता था। अब उसके मन में केवल एक ही ध्यान था, किसी प्रकार कुंतल कुमारी, परम लावण्यमयी, उसके अन्तराल की आराधना ललितांगी के दर्शन।

वह शिवालय गया। वहां आपत्ति-आशंका की शीघ्रता में उसने ललितांगी के दर्शन किये और तभी वह निबिड़ अन्धकार में राज-प्रासाद के पार्श्व-परिकोटरे के किनारे-किनारे चलकर राजकुमारी ललितांगी के प्रासाद के ठीक पार्श्व में स्थित परिकोटरे के निकट जा खड़ा हुआ।

अन्धकारमयी रजनी का सर्वत्र साम्राज्य था। छाया से छाया प्रतीत होना दुष्कर था। निकट के प्रासाद से उमड़ती संगीत-ध्वनियाँ दिशाओं को गुंजायमान कर रही थीं। धनञ्जय ध्यान कर रहा था—यदि इस समारोह में वह भी उपस्थित होता तो महाकवि को ज्ञात हो जाता कि उन्हीं के स्तर का एक संगीताचार्य भी मगध में ही विद्यमान है। तब कुंतलनरेश को ज्ञात होता कि उनके संगीताचार्य में क्या विशेषतायें हैं। तब जब राजकुमारी सुनती तो वह मुदित मन में ज्ञात करती कि उसके संगीत-शिक्षक में क्या विशेष गुण हैं·····किन्तु उन कारणों को वह क्या करे जिन्होंने उसके भविष्य को मसल कर रख दिया। व्यवधानों को क्या करे जिन्होंने उसके जीवन की श्री को शून्य स्थित कर दिया।

तभी उस नीरव निशा में संसार की समग्रता से अपने मन को एकाग्र कर, दृष्टि को केन्द्रित कर जो उसने ध्यान किया तो राजकुमारी ललितांगी के प्रासाद की अट्टालिका पर एक छाया उसे दृष्टिगोचर हुयी। उसने अपनी दृष्टि को अधिकाधिक केन्द्रित किया और तब उसने अपने उसी

अन्तर्मन से निश्चित कर लिया कि वह कोई अन्य नहीं ललितांगी ही है जिस अन्तराल से कोई अपने प्रेम का छाया-चित्र स्वप्न में भी पहचान लेता है।

किन्तु उस नीरव-अन्धकार में दर्शन कैसे ? और निश्चय कैसा कि वह छाया परम आराधना ललितांगी की ही है ?

तभी धनञ्जय ने प्रस्तर के परिकोटरे के सन्निकट जाकर दृष्टि-पात किया। उस परिकोटरे को पार करना सहज न था किन्तु उसने देखा कि निकट ही एक पर्वतीय शिला ऊँची उठी हुई है जो परिकोटरे की प्रस्तर रेखा के समानान्तर है। धनञ्जय उस शिला पर चढ़ कर परि-कोटरे को फांद गया। अब वह प्रासाद के पार्श्व-स्थित प्रमोदोद्यान में था।

शनैः-शनैः, धनञ्जय ने पग बढ़ाये और वह वस्तुतः उस स्थान पर पहुँच गया जहाँ अट्टालिका पर राजकुमारी ललितांगी इधर-उधर टहल रही थी। धनञ्जय हरित दूर्वा पर इस समय खड़ा था।

तभी धनञ्जय के कर्ण-रन्ध्रों में जैसे किसी ने विष घोल दिया। उसके नेत्र ज्यों दृश्य-शक्ति को खोने लगे। जैसे उसके अन्तर्मन का विश्वास-स्थान लुप्त होने लगा और तब उसने सुना—"आइये आचार्य !"

और धनञ्जय ने निश्चित पहचान लिया सेविका सुमाली के साथ एक पुरुष-छाया निकट से निकल कर आगे बढ़ गयी।

धनञ्जय दौड़ कर पुनः परिकोटरे के निकट जा पहुँचा और उसने दूर से देखा—उस अन्धकार में ही देख लिया अथवा ध्यान कर लिया—ललितांगी किसी पुरुष के बाहुपाश में आबद्ध है।

तब किसी प्रकार परिकोटरे पर चढ़ कर वह पुनः दूसरी ओर कूद गया।

उसका मन विवश था। उसके नेत्र विवश थे। उस समय उसके अन्तराल का चीत्कार·····

स्नेह का वह पराजित·····आराधक मन्द पग टेकता परिकोटरे के

समानान्तर अपने पग-चापों से स्थिर रेखा खींचता हुआ—हताश् लौट पड़ा।

तब एक स्थल पर धनञ्जय स्थिर होकर खड़ा हो गया। उस प्रतिक्रिया में उसने अपने भावी-जीवन की न जाने कितनी व्यवस्थायें निश्चित कर लीं। तब उसने समक्ष दृष्टिपात किया—प्रासाद के पार्श्व में स्थित पर्वतीय प्रदेश सी ऊँची-नीची पथरीली भूमि देखकर वह जीवन की असमानता के आक्रोश में डूब गया। तब उसकी दृष्टि पुनः लौटी तो उसने देखा—ललितांगी के प्रासाद के बहिर्गमन-द्वार से दो अश्व राजपथ में आगे बढ़ते चले गये।

धनञ्जय भी बढ़ आया।

× × ×

धनञ्जय दक्षिण की ओर बढ़ता चला गया।

धनञ्जय ने सुना—"पाटलिपुत्र में एक विदेशी यात्री आया है। मगध में उसका अत्यधिक स्वागत हो रहा है। उसे जन-जन चीनी यात्री कह कर पुकारते हैं। किन्तु धनञ्जय की इच्छा अब मगध जाने की नहीं थी।

धनञ्जय अपनी भावी रूपरेखा की परिपूर्ति के हेतु दक्षिणी वन्य प्रदेशों में कार्यरत था—तभी उसने एक दिवस सुना—"मागध सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य परलोकवासी हो गये हैं। उसे प्रसन्नता हुई।

धनञ्जय ने एक दिवस सुना..."मागध में आज युवराज कुमारगुप्त का सम्राट्पद पर—विभूषण-समारोह सम्पन्न हो रहा है। आज मगध के शासक का तिलकोत्सव है।·····आज ललितांगी·····महाराज्ञी घोषित होगी·····।

धनञ्जय की श्वासगति एक पल को शान्त-स्थिर होती प्रतीत हुई।

किन्तु दूसरे ही क्षण वह प्रसन्न हुआ। उसने अब अपने जीवन की

स्थिति सुनिश्चित कर ली थी। अब उसका कार्य-क्रम व्यवस्थित हो गया था। अब उसका दल शक्ति संचित कर चुका था। अब उसने पर्याप्त सामरिक अस्त्र-शस्त्र एवं शक्ति प्राप्त कर ली थी।

× × ×

पुष्यगुप्त ने सम्राट् कुमारगुप्त को चैन से नहीं बैठने दिया। उसने मगध-साम्राज्य की दक्षिणी सीमा पर उत्पात प्रारम्भ कर दिये। उसने सीमा-बद्ध प्रदेशों से धन भी प्राप्त करना प्रारम्भ कर दिया। सीमा-प्रदेश में ही नहीं—पाटलिपुत्र में भी एक आतंक व्याप्त हो गया।

सम्राट् कुमारगुप्त ने एक विशाल सैन्य-शक्ति दक्षिण की ओर भेजी किन्तु वह परास्त होकर लौट आई।

सम्राट् कुमारगुप्त ने पुनर्वार एक महान् सामरिक सैन्य शक्ति दक्षिण की ओर भेजी किन्तु वह भी न जाने कितनी धन-जन की क्षति उठा कर लौट आई।

और अब प्रतिदिन पुष्यगुप्त के अनाचारों की सूचनाएँ आने लगीं।

यहाँ तक आतंक उपस्थित हुआ कि मागध राज्य में चर्चा फैल गई—पुष्यगुप्त मगध राजधानी पर आक्रमण करने की योजना बना रहा है।

पुष्यगुप्त ने सम्राट् कुमारगुप्त की शान्ति-सुरक्षा समाप्त कर दी थी।

× × ×

चतुर्दिक पर्वतमालाओं के उत्तुंग शिखर दृष्टिगत होते थे। ये पर्वत-मालायें भयंकर वन्य-प्रदेश से घिरी हुई थीं। किसी भी शिला-खण्ड पर खड़े होकर जिधर भी दृष्टि जाती थी—न जाने कितने योजन तक वन ही वन दीख पड़ते थे। इस वन प्रदेश में कुछ स्थान ऐसे थे जहाँ वृक्षों की जटिल शाखाओं के मध्य से होकर दिन में भी सूर्य का प्रकाश प्रकट नहीं होता था। इस अन्धकार में वन्य-जन्तुओं की चीत्कार, उनके विभिन्न शब्द-स्वर दूरस्थ प्रान्त से जब सुने जाते थे तो यों ही भय से

हृदय काँप जाता था।

इसी वन्य प्रदेश के पार्श्व-स्थित पर्वत-प्रदेश के उच्च शिला-खण्ड पर इस समय अधिक चहल-पहल थी। एक उच्चस्थ शिला पर पुष्यगुप्त बैठा था। उसके समक्ष ही राज-सभा की भाँति एक महती सभा पर्वत-खण्डों पर बैठी हुई थी।

पुष्यगुप्त विचार-मुद्रा में बैठा था किन्तु उसकी आकृति से प्रसन्नता प्रस्फुटित हो रही थी। उसके गौरांग से ज्यों शक्ति-ज्वाला प्रकट हो रही थी। उसके नेत्रों में ज्यों विजय-मद उभर रहा था।

तभी आकाश में स्वर गूंजे।

महाराज पुष्यगुप्त की जय ! जय ! जय !

वातावरण में ज्यों हास प्रकट हो गया।

"क्या सूचना है नन्दिन ?"

"महाराज ! विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ है कि महागहिम मागध सम्राट् कुमारगुप्त ने आपकी ओर प्रस्थान कर दिया है।"

"इस बार स्वयं कुमारगुप्त आ रहा है। हः, हः, हः—मागध की सामरिक शक्ति अब सम्राट् में केन्द्रित हो गई। देखा जायगा," कहते हुए पुष्यगुप्त ने अट्टहास कर वातावरण को प्रकम्पित कर दिया। यों पुष्यगुप्त की आकृति में प्रसन्नता प्रकट हो रही थी किन्तु उसकी किसी दिवस की मृदुता—कोमलता कहीं विलीन हो गई थी। उसके स्थान पर एक कठोरता, एक तीक्ष्णता व्याप्त हो गई थी।

तभी उस सभा में—किनारे की ओर बैठा एक व्यक्ति उठा और उसने पुष्यगुप्त की सराहना में एक मधुर गीत गाना प्रारम्भ कर दिया।

पुष्यगुप्त अपने उस राजसी वैभव से अत्यधिक प्रसन्न हो रहा था। वह ध्यान कर रहा था—आज उसकी यह स्थिति है कि वह किसी भी सम्राट् से धन, जन, शक्ति, वैभव पर आह्वान कर सकता है।

उसकी पदाति एवं अश्व-सेना के पास आवश्यकता से अधिक अस्त्र-शस्त्र थे। वे पर्वतीय प्रान्तों से निकल कर मागध-सीमा-प्रदेशों पर दूर तक आक्रमण करते थे। लूट में अतोल स्वर्ण-मुद्रायें, अन्न-भाण्डार, शस्त्र तथा मागध सैनिक भी साथ लाते थे। वे स्त्रियों को कभी नहीं छूते थे। वृद्धों को कभी त्रास नहीं देते थे। बालकों को दुलराते थे।

पुष्यगुप्त अपने व्यवहार से वहाँ के प्रान्त में सर्वप्रिय बना हुआ था। पुष्यगुप्त एक साम्राज्य का वैभव-सुख प्राप्त कर रहा था। यही भविष्य निर्धारित कर उसने कुंतल छोड़ा था। किन्तु उसने कुंतल को कभी नहीं छेड़ा। उसने कभी कुंतल की ओर देखा भी नहीं। वह तो केवल मगध को आतंकित किये हुए था। उसी में उसे परम आनन्द प्राप्त होता था। इस पर भी स्मृति की एक टीस प्रतिक्षण उसके अन्तराल को कोंचती रहती थी।

× × ×

सम्राट् कुमारगुप्त यदि शाब्दिक अर्थों में पराजित नहीं हुआ तो उसे पुष्यगुप्त से इतनी क्षति उठानी पड़ी कि वह अन्तर्मन में चीत्कार कर उठा। पुष्यगुप्त के सबल अश्वारोहियों ने वन्य-प्रदेश से बाण-वर्षा कर मगध के सेनानियों को खदेड़ दिया। सम्राट् की सेना छिन्न-भिन्न हो गई। भागने में वह न जाने कितने दलों में बंट गई। न जाने कितने अस्त्र-शस्त्र छोड़ गई। न जाने कितनी युद्ध-सामग्री पुष्यगुप्त के हाथ लगी।

और जब मागध राज्य-सभा में यह समाचार प्रकट हुआ कि एक अवसर ऐसा भी आया जब सम्राट् कुमारगुप्त को सम्पूर्ण रात्रि, आत्म-रक्षार्थ, एक वृक्ष के तले भूमि-शयन करना पड़ा तो सभा के मन खिन्न हो गये।

इस समाचार से महाराज्ञी ललितांगी को प्रथम बार क्लेश हुआ।

यों युद्धों से राज-महिषियों को कोई प्रयोजन नहीं होता। उन पर प्रभाव होता है तो युद्ध के प्रतिफल से। युद्धकाल में तो राजमहिषियाँ सब ओर से उदासीन होकर राज-प्रासादों में आमोद-प्रमोद में लीन बनी रहती हैं।

वह क्षोभ महाराज्ञी ललितांगी को ही नहीं हुआ। वह दुःख राज-कुमार स्कन्दगुप्त को भी हुआ। वह शिशु स्कन्दगुप्त अस्थिर हो गया। उसके नेत्रों में अपने पिता की उस आर्द्रता पर अश्रु छलछला आये और उसने मगध के द्रोही पुष्यगुप्त को नष्ट करने का संकल्प किया।

× × ×

आज पाटलिपुत्र में कुमार स्कन्दगुप्त को युवराज-पद-विभूषित किया जा रहा है। आज मगध में सर्वत्र आनन्दोत्सव मनाये जा रहे हैं। आज राम्राट् कुमारगुप्त के साम्राज्य-अधिकार की पहली इकाई कम हुई।

"आज आक्रमण नहीं होगा," पुष्यगुप्त ने अपने सैन्याधिकारियों को आदेश दिया।

× × ×

पुष्यगुप्त यह सुन कर प्रसन्न हुआ कि दीर्घकाल तक उससे युद्ध कर मगध सम्राट् कुमारगुप्त अब त्रस्त व जर्जर हो गया है। वह रुग्ण भी है।

उससे अधिक प्रसन्नता उसे इस समाचार को सुन कर हुई कि युव-राज स्कन्दगुप्त उस पर आक्रमण करने की योजनायें सुनिश्चित कर पाटलिपुत्र से प्रस्थान कर चुका है।

पुष्यगुप्त ध्यान करने लगा—वह कौन सा शुभ दिवस होगा जिस दिन वह स्कन्दगुप्त को देख पावेगा।

× × ×

सम्राट् कुमारगुप्त रुग्ण शय्या पर लेटे हुए थे। उनके सरहाने महाराज्ञी ललितांगी बैठी थीं। उन्होंने सम्राट् के साहचर्य में दाम्पत्य-

जीवन के अनेक वर्ष ऐश्वर्य-विलास-आनन्द में व्यतीत किये थे। ललितांगी के स्वरूप की रेखायें वही थीं। उसमें रूप की मादकता कुछ क्षीण हो गयी थी। उनका वह कुमारिल यौवन समय के साथ समाप्त हो चुका था। यौवन की प्रौढ़ता के स्थान पर अब वृद्धता के लक्षण प्रारम्भ हो गये थे। इस पर भी उस आकृति में अब भी भव्यता परिलक्षित होती थी।

जीवन का अधिक भाग वासना तथा विलास में व्यतीत करने के उपरान्त ललितांगी का मन अब अधिक दुःखी रहता था। एक ओर सम्राट् की रुग्णावस्था से उनमें चिन्ता बनी हुयी थी। दूसरी ओर पुष्यगुप्त नामक कोई दुष्ट साम्राज्य की नींवें हिला रहा था। उसके शमन के लिये युवराज स्कन्दगुप्त दक्षिण की ओर गया हुआ था।

महाराज्ञी ललितांगी—निरन्तर विचार रही थी—जिस भयानक आक्रान्ता को सम्राट् स्वयं पददलित न कर सके उसे बालक स्कन्दगुप्त किस प्रकार पराजित करेगा। किन्तु माँ के वात्सल्य से अधिक उन्हें महाराज्ञी के पद का निर्वाह भी तो करना था। उसे अपने युवराज को सहर्ष विदा करना पड़ा था। तब वह करती भी क्या? राजमाता ध्रुवस्वामिनी ने प्रोत्साहित किया कि युवराज स्कन्दगुप्त अवश्य युद्ध में जावेगा। इस बार उसकी विजय निश्चित है।

अब महाराज्ञी ललितांगी की मान्यतायें भी परिवर्तित हो चुकी थीं। वैवश्य में नहीं, कर्तव्य के रूप में ललितांगी को राजमाता ध्रुवस्वामिनी की शुश्रूषा करनी पड़ती थी। उसमें अब वह प्रसन्नता का अनुभव करती थी।

अस्तु, इस समय सम्राट् की अधिक रुग्णावस्था में महाराज्ञी ललितांगी अहर्निशि उनके पर्यङ्क के निकट बैठी रहती थी।

अभी-अभी पुरुगुप्त आकर सम्राट् की रुग्णावस्था का बिना ध्यान किये ही अनर्गल वार्तालाप कर गया था। उसकी मांग थी कि सम्राट् की मृत्यु के अनन्तर उसे मगध का सम्राट् घोषित किया जावे। वह

तत्काल ही सम्राट् की मृत्यु चाहता है···और अपने अनधिकृत जन्म के घोष में सम्राट् पद भी।·····किन्तु उसके अनधिकृत जन्म में उसका क्या दोष है। नारी जो पुरुष की वासना की सम्पूर्ति की सहयोगिनी है उसमें कोई भी हो। अवैध-पुत्र पुरुगुप्त की मां की वासना तुष्टि के अनन्तर अब पुरुगुप्त की सन्तुष्टि की मांग भी स्वाभाविक है। सम्राट् पद नहीं तो वह कुछ तो प्राप्त करेगा ही। अन्यथा होगा क्या--स्कन्दगुप्त तथा पुरुगुप्त में विग्रह···इसी सोच में महाराज्ञी ललितांगी बैठी थी। उन्हें बारम्बार पुत्र का ध्यान हो आता था। उनके अनुरूप ही वह परम कान्तिमय व सुन्दर था ज्यों उनकी प्रतिच्छाया ही स्कन्द में प्रस्फुटित हुई थी। तभी ललितांगी को अपनी बाल्यावस्था से उस क्षण तक का सम्पूर्ण जीवन छाया की भांति समक्ष उपस्थित होने लगा। नारी का वह रूप जब वह बालिका से आज बालक की माँ बन गयी है।

तभी, जैसे प्रलाप में सम्राट् ने पुकारा—"स्कन्द कहाँ है ?"

"वह आता ही होगा," कहते हुये महाराज्ञी ललितांगी ने सम्राट् के कृश शरीर को एक बार देखा और तब धीमे से अपना कोमल कर सम्राट् के मस्तक पर रख दिया।

सम्राट् की रुग्णावस्था से सम्पूर्ण मगध चिंतित था। सम्राट् की आरोग्य-कामना करते हुये पाटलिपुत्र में व्रत-विधान, यज्ञ, हवनादि यत्र-तत्र सम्पन्न हो रहे थे। पंडित वर्ग अहर्निशि वेद-पाठ कर रहा था। राजमहालय में भी राजकुल माहिषियाँ एवं अन्यान्य चिन्ताकुल होकर सम्राट् के पर्यङ्क के निकट ही बने रहते थे। राजमाता ध्रुव स्वामिनी एवं महाराज्ञी ललितांगी विशेष अधीर व चिन्तित थीं। राजमाता ध्रुव स्वामिनी का हृदय यों भी अत्यधिक व्यग्र था। स्वभावतः महाराज्ञी ललितांगी का अन्तर्मन अशान्त किन्तु बाह्य रूप से पूर्णतः स्थिर था।

सम्राट् बारम्बार स्कन्दगुप्त का स्मरण कर लेते थे।

मगध युवराज स्कन्दगुप्त सबल सैन्य शक्ति सहित दक्षिण पहुँचकर पुरुगुप्त पर आक्रमण करने की व्यवस्था कर रहा था किन्तु कहीं कोई ऐसा चिन्ह ही प्रकट नहीं था जिससे यह विदित होता कि पुरुगुप्त का वास्तविक स्थल है कौन सा ? उस भयावह वन्य-प्रदेश में प्रवेश करना युक्ति संगत न था। युवराज के सैन्याधिकारियों का कथन था कि वन्य प्रदेश में पैठने के कारण ही सदैव पराजय होती है। उस घनघोर वन्य-प्रदेश से निकलना तब असम्भव हो जाता है।

तब, सर्वसम्मति से निश्चय हुआ कि उसी समतल क्षेत्र में स्कंधावार अवस्थित किया जावे तथा अपने ऊपर आक्रमण होने की प्रतीक्षा की जावे। तभी प्रत्याक्रमण का अवसर सम्भावित होगा।

किन्तु अनेक दिवस व्यतीत हो गये—सर्वत्र पूर्णतः शान्ति विराजी रही। उधर सम्राट् की सोचनीय अवस्था की सूचनायें निरन्तर आ रही थीं। युवराज स्कन्द तत्काल आक्रमण करने को आतुर था। वह इस प्रकार अपने संकल्प की अपूर्ति में मगध भी नहीं लौटना चाहता था।

तभी सूचना प्राप्त हुयी कि पुष्यगुप्त इस समय नर्मदा नदी के निकटवर्ती मेकला नामक स्थान में निश्चिन्तता सहित हर्षानन्द मना रहा है। जैसे उसे ज्ञात ही नहीं है कि मगध की विशाल सेना उसकी प्रतीक्षा कर रही है।

युवराज स्कन्द की आज्ञानुसार सेना ने नर्मदा की ओर प्रयाण किया। अल्पकाल में ही मागध युवराज स्कंदगुप्त का सैनिक स्कंधावार नर्मदा के तीर पर लग गया। इसके पूर्व पुष्यगुप्त पर हुये आक्रमणों के समय आये हुए मागध-सैन्याधिकारी इस समय किंचित् विस्मित थे कि पुष्यगुप्त इस समय इतना शान्त क्यों है ? इसके पूर्व तो उसके अनेक आक्रमण हो जाते थे और तब वह भाग कर छिप जाता था। संग्राम की स्पष्ट स्थिति प्रस्तुत ही न होती थी और अन्ततः अनिश्चितता में लौटना पड़ता था। अब तो वह भी नहीं दिखाई दे रहा था। सभी का मत था कि पुष्यगुप्त

किसी नये प्रकार के आक्रमण की व्यवस्था कर रहा होगा तभी विशेष सतर्कतापूर्वक पुष्यगुप्त की गतिविधि का निरीक्षण किया जा रहा था।

अन्ततः, गुप्तचरों ने सूचना दी कि पुष्यगुप्त का स्कंधावार मेकला के पूर्व में अवस्थित है। तत्काल आक्रमण करने के प्रबन्ध प्रारम्भ कर दिये गये।

यह प्रथम अवसर था जब मागध सेनाओं ने पुष्यगुप्त पर आक्रमण किया हो। दूसरी ओर से न आक्रमण की स्थिति थी न प्रत्याक्रमण की। कुछ समय तक पुष्यगुप्त के सैनिकों ने आत्म-रक्षा की तब अन्त में वे पीछे हट गये। पुष्यगुप्त के स्कंधावार में मागध सेनायें घुस गईं। युवराज स्कन्द को पुष्यगुप्त के स्कन्धावार में अस्त्र-शस्त्रों का एक विशाल भांडार एवं अतोल खाद्य-सामग्री प्राप्त हुई।

मागध सैन्याधिकारी अत्यधिक सतर्क होकर पुष्यगुप्त के सैनिकों का पीछा कर रहे थे। कुछ आगे बढ़ कर एक पर्वतीय प्रदेश पर पुष्यगुप्त का द्वितीय स्कन्धावार दृष्टिगत हुआ।

समक्ष, मागध सामरिक शक्ति को देख कर भी पुष्यगुप्त के स्कन्धावार में कोई गति न थी। सब शान्त पड़ा हुआ था। कभी-कभी, यत्र-तत्र सैनिक प्रहरी दिख जाते थे।

युवराज स्कन्द को स्थिति समझ में नहीं आ रही थी। तभी युद्ध-कुशल सैन्याधिकारियों की सम्मति पर इस द्वितीय स्कन्धावार पर भी आक्रमण किया गया। मागध सैनिकों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन्होंने उस स्कंधावार में एक भी सैनिक नहीं देखा।

इस रिक्त स्कन्धावार में युवराज स्कन्दगुप्त अपने सैन्याधिकारियों सहित निरीक्षण करता घूम रहा था। मागध की विशाल सेना सामने खड़ी थी। तभी घूमते-घूमते युवराज एक स्थल पर जा पहुँचा। यह एक शिला-प्रदेशीय कन्दरा थी जिसका अन्तर्भाग अत्यधिक विस्तृत था। इसमें एक स्थल पर एक स्वर्ण-रत्न-जटित भव्य सिंहासन रक्खा हुआ था जिसके

निकट दोनों ओर कुछेक स्वर्ण-चौकियाँ रक्खी हुई थीं। प्रतीत हो रहा था जैसे वह कोई मन्त्रणा-स्थल हो।

मुख्य सिंहासन के ठीक सामने स्वर्ण, रजत, रत्न, हीरक, मौक्तिक के ढेर लगे हुए थे। इस वैभव-भाण्डार को देखकर सभी चकित हो रहे थे। युवराज स्कन्दगुप्त सर्वाधिक चकित था।

वहीं एक सैन्याधिकारी की दृष्टि जो गई तो उसने उस रिक्त सिंहासन पर एक ताड़-पत्र रक्खा देखा। उसने वह उठाकर युवराज के समक्ष उपस्थित किया। उसमें लिखा हुआ था—"मागध युवराज स्कन्दगुप्त को यह कोष समर्पित है।"

सभी के विस्मय का ठिकाना न रहा।

× × ×

तदनन्तर द्विगुणित उत्साह सहित युवराज स्कन्दगुप्त ने उस प्रदेश का भली प्रकार भ्रमण किया। वह वन्य-प्रदेश तथा पर्वत-खण्ड मागध सेनाओं ने रौंद डाला।

अन्ततः, एक स्थल पर एक विशाल संगठित सैन्य-शक्ति एकत्र दिखाई दी। इस समूह में पदाति, अश्वारोही तथा गज-सेना थी। बहुत पीछे एक गज पर पुष्यगुप्त दिखाई दे रहा था जो सैन्य-संचालन कर रहा था। पुष्यगुप्त को कोई पहचानता न था। मागध सैनिकों में से किसी ने उसे कभी नहीं देखा था। वह इतने युद्धों में प्रथम बार ही इस प्रकार समक्ष आया था। एक गौरांग भव्य व्यक्तित्व, जिसके केश अर्ध श्वेत थे किन्तु जिसकी आकृति में ब्रह्मचर्य का तेज विकसित हो रहा था।

अस्तु, वह एक समतल भूमि थी जो दो ओर पर्वतों से घिरी हुई थी।

रणभेरी बज उठी। दोनों ओर से तूर्य निनाद होने लगे। मागध सेनाओं ने पुष्यगुप्त की सेनाओं पर आक्रमण कर दिया। भयावह युद्ध प्रारम्भ हो गया। दो दिवस तक भयंकर युद्ध होता रहा।

दूसरे दिन मध्यान्तर में युवराज स्कन्दगुप्त के खड्ग प्रहार से पुष्यगुप्त अचेत हो गया। अचेत होते-होते पुष्यगुप्त ने देखा—ललितांगी की आकृति का एक युवक और उसने अपने पलक मूँद लिये।

पुष्यगुप्त की पराजित सेना निःशस्त्र कर दी गयी।

× × ×

पुष्यगुप्त पर सांघातिक प्रहार हुआ था। संध्या से कुछ समय पश्चात् पुष्यगुप्त की स्थिति गम्भीर हो गई। मागध स्कंधावार में पुष्यगुप्त, युवराज स्कन्दगुप्त तथा अन्यान्य सैन्याधिकारियों से घिरा हुआ था।

सभी को यह देख कर आश्चर्य हो रहा था कि उसकी आकृति में सम्राट् कुमारगुप्त की आकृति की ज्यों प्रतिच्छाया परिलक्षित हो रही थी।

तभी पुष्यगुप्त की वाणी प्रस्फुटित हुयी—

"मागध युवराज! तुम्हें बधाई। जिस सुगमता से तुम्हें मेरे अन्य स्कन्धावार, अस्त्र-शस्त्र एवं अतोल सम्पत्ति प्राप्त हुई उसी प्रकार बिना युद्ध के मेरा आत्म-समर्पण भी तुम्हें प्राप्त होता, किन्तु उसमें मेरा व तुम्हारा दोनों का अपमान था। मुझे तुम्हारे युद्ध-कौशल के दर्शन करने थे। मुझे ललितांगी-पुत्र के दर्शन करने थे।"

'ललितांगी-पुत्र'—सुनते ही युवराज स्कन्दगुप्त चकित रह गया। अन्यान्य सैन्याधिकारी मरणासन्न पुष्यगुप्त को, निरुत्तर, अनिमेष देखते रहे।

तभी टूटती सांसों पुष्यगुप्त ने प्रारम्भ किया—"मागध युवराज स्कन्द! मुझे ललितांगी के पति से युद्ध करना था। वह मैंने जीवन भर किया। कहीं उसने मुझे पराजित किया और कहीं·····जीवन भर वह मुझ से पराजित हुआ।"

किन्तु ललितांगी के पुत्र····· से मैं कैसे युद्ध कर सकता था··· कैसे ललितांगी के····· पुत्र·····से कैसे · ···," कहते-कहते पुष्यगुप्त ने संकेत से युवराज स्कन्द को अपने समक्ष बुलाया। प्रथम तो युवराज झिझका, किन्तु मरणासन्न व्यक्ति की अन्तिम इच्छा की पूर्ति का विचार कर वह पुष्यगुप्त के निकट बढ गया।

तत्काल ही पुष्यगुप्त ने युवराज स्कन्द का मस्तक चूम लिया।

युवराज स्कन्द के हटते ही पुष्यगुप्त के प्राण पखेरू उड़ गये।

× × ×

उसी क्षण मगध श्री-विहीन हो गया। उसी पल पाटलिपुत्र में सम्राट् कुमारगुप्त का शरीरांत हो गया।

महाराज्ञी ललितांगी के जीवन का वह क्षण·····वह अज्ञात क्षण कैसा था ?

× × ×

दक्षिण विजय कर जब युवराज स्कन्दगुप्त लौटा तो सीमा प्रदेश में ही उसे पिता की मृत्यु का समाचार विदित हुआ। वह द्रुतगति से पाटलिपुत्र पहुँचा।

राज-प्रासाद में प्रवेश कर वह सर्व-प्रथम अपनी माता ललितांगी के समक्ष गया। वैधव्य-विपन्ना ललितांगी ने विजयी पुत्र को अपने वक्ष से लगा लिया।

अबोध बालक की भाँति युवक युवराज स्कन्दगुप्त ने पुष्यगुप्त-विजय का अक्षरशः वृत्तांत अपनी माता को सुना दिया।

ललितांगी का अन्तर्मन अनायास कह उठा—"तब वह तुम थे आचार्य ! वैसा प्रेम····· !"

इति